

समरथ

मई-जून 2016 ♦ नई दिल्ली



सआदत हसन मंटो

(11 मई, 1912-18 जनवरी, 1955)



नाहि तो जनम नसाई

भारतवर्ष में क्या कुछ नहीं घट रहा। विकास की होड़ में भारत सरपट दौड़ रहा है। गौ-माता के देश में जनता सुबह-सवेरे अखबार में ढाक का चौथा पात तलाशती रहती है। आचारों से खाली विचारों के महाकुंभ में 'मंथन' की विचारधारा से ओत-प्रोत राष्ट्रवाद भविष्य के संकेत देता नज़र आता है। नदी-नाले शर्मसार हो तन ढकने को राह तलाशते हैं, तो पर्यावरण बेइंतहा मजबूर हो चला है। दलितों, आदिवासियों, बंजारों और औरतों के लिए दमघोटू तंत्र आए दिन हदें पार कर असामान्य रूप में तब्दील होता जा रहा है। जल समृद्धि का देश तीसरे विश्वयुद्ध की ओर अग्रसर हो रहा है। भाषा और शिक्षा के मसले गंभीर से गंभीरतम होते जा रहे हैं। ऐसे हालात के मद्देनज़र लोकचेतना की आवाज़ का बिगुल बजाती, आपातकाल के निरंकुश दौर में लिखी गई भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'नहीं, बदला नहीं है मेरा देश' के साथ चेतना की लहरों को तेज धाराओं में तब्दील करता समरथ का यह अंक आपके समक्ष है।

नहीं, बदला नहीं है मेरा देश

■ भवानी प्रसाद मिश्र

नहीं, बदला नहीं है मेरा देश
बावजूद तुम्हारे हैलीकॉप्टरों के
आसमान अभी तक हमारा है
ढाँक नहीं पाये हो तुम उसके सितारे
और चाँद और सूरज - भयावना
नहीं लगता अभी तक हमें हमारा
नीला आसमान, गीतमान हमारे
वह अभी तक अपनी छाती में
भरकर फैला देता है और हमें
अपनी बाँहों में ले लेता है
जब हम उसकी तरफ
अपनी बाँहें फैलाते हैं
नहीं बदला नहीं है हमारा
देश बावजूद तुम्हारे हथियारों
से लदे बज्रों के बहते पानी
पर, असर नहीं डाला है
तुम्हारे उन बज्रों ने हमारी
बहती वाणी पर और
तुम्हारे गले में आकर पड़ने
वाले गज्रों का हम बुरा
नहीं मानते क्योंकि तुम
नहीं जानते गजरे झूठे हैं
और झूठे हैं गजरे डालने वाले

हाथ, इससे भी बुरी बात वे
कायर हैं, और साथ छोड़ देंगे
तुम्हारा जैसे ही कम हुआ तुम्हारा कौशल
जैसे ही धरती ज़रा ठोस हुई
और हम जितना चल रहे हैं
उससे थोड़ा और तेज़ चल
पाये, अँधेरे में जितना
जल रहे हैं, उससे ज़रा-सा
और ज्यादा जल पाये
तुम्हारा सिंहासन हमें
नहीं चाहिए
वह तो हम
उठाकर अजायबघर में
धर देंगे - तुम्हें शायद
मालूम है हमारा इरादा
हम इस विशाल और
बड़े देश के
हर छोटे से छोटे गाँव में
ले जाकर स्वराज्य धर देंगे
वह सिर्फ़ तुम्हारे महल के भीतर
और सिंहासन के ऊपर नहीं रहेगा
जिस अर्थ में आज तुम्हारा महल और
सिंहासन है, वह उस अर्थ में
तुम्हारे देखते-देखते भू पर नहीं रहेगा।

मृगतृष्णा झुठलाते तालाब

■ अनुपम मिश्र

देश भर में पानी का काम करने वाला यह माथा रेगिस्तान में मृगतृष्णा से घिर गया था।

सबसे गरम और सबसे सूखा क्षेत्र है यह। साल भर में कोई 3 इंच से 12 इंच पानी बरसता है यहां। जैसलमेर, बाड़मेर और बीकानेर के कुछ भागों में कभी-कभी पूरे वर्ष में बस इतना ही पानी गिरता है, जितना देश के अन्य भागों में एक दिन में गिर जाता है। सूरज भी यहीं सबसे ज्यादा चमकता है और अपनी पूरी तेजी के साथ। गरमी की ऋतु लगता है, यहीं से देश में प्रवेश करती है और बाकी राज्यों में अपनी हाजिरी लगाकर फिर वहीं रम जाती है। तापमान 50 अंश न छू ले तो मरुभूमि के लोगों के मन में उसका सम्मान कम हो जाता है। भूजल भी यहीं सबसे गहरा है। जल के अभाव को ही मरुभूमि का स्वभाव माना गया है। लेकिन यहां के समाज ने इसे एक अभिशाप की तरह नहीं, बल्कि प्रकृति के एक बड़े खेल के हिस्से की तरह देखा और फिर वह एक कुशल पात्र की तरह सज-धज कर उस खेल में शामिल हो गया।

चारों तरफ मृगतृष्णा से घिरी तपती मरुभूमि में जीवन की, एक जीवंत संस्कृति की नींव रखते समय इस समाज ने पानी से संबंधित छोटी से छोटी बात को देखा-परखा होगा। पानी के मामले में हर विपरीत परिस्थिति में उसने जीवन की रीति खोजने का प्रयत्न किया और मृगतृष्णा को झुठलाते हुए जगह-जगह तरह-तरह के प्रबंध किए।

जहां तालाब नहीं, पानी नहीं, वहां गांव नहीं। तालाब का काम पहले होगा तब उसको आधार बनाकर गांव बसेगा। मरुभूमि के सैकड़ों गांवों का नामकरण यहां बने तालाबों से जुड़ा है। बीकानेर जिले की बीकानेर तहसील में 64, कोलायत तहसील में 20 और नोखा क्षेत्र में 123 गांवों के नाम 'सर' पर आधारित हैं। एक तहसील लूणकरणसर के नाम में ही सर है और यहां अन्य 45 गांवों का नामकरण सर पर है। बचे जिन गांवों के नाम में सर नहीं है, उन गांवों में भी तालाब जरूर मिलेंगे। हां दो-चार ऐसे भी गांव हैं, जिनके नाम में सर है लेकिन वहां सरोवर नहीं है। गांव में सरोवर बन जाए - ऐसी इच्छा गांव के नामकरण के समय रहती ही थी, ठीक उसी तरह जैसे बेटे का नाम राजकुमार, बेटे का नाम पार्वती आदि रखते समय माता-पिता अपनी संतानों में इनके गुणों की कामना कर लेते हैं।

अधिकांश गांवों में पूरा किया जा चुका कर्तव्य और जहां

कहीं किसी कारण से पूरा न हो पाए, उसे निकट भविष्य में पूरा होते देखने की कामना ने मरुभूमि के समाज को पानी के मामले में एक पक्के संगठन में ढाल दिया था।

राजस्थान के ग्यारह जिलों - जैसलमेर, बाड़मेर, जोधपुर, पाली, बीकानेर, चुरु, श्रीगंगानगर, झुंझनू, जालौर, नागौर और सीकर में मरुस्थल का विस्तार मिलता है। लेकिन मरुस्थल अपने को समेट कर सघन बनता है। जैसलमेर, बाड़मेर और बीकानेर में। यहीं देश की सबसे कम वर्षा है, सबसे ज्यादा गरमी है, रेत की तेज आंधी है और 'पंख' लगाकर यहां से वहां उड़ने वाले रेत के विशाल टीले, धोरे हैं। इन तीन जिलों में जल का सबसे ज्यादा अभाव होना चाहिए था। लेकिन मरुभूमि के इन गांवों का वर्णन करते समय जनगणना की रिपोर्ट को भी भरोसा नहीं हो पाता कि यहां शत-प्रतिशत गांवों में पानी का प्रबंध है। और यह प्रबंध अधिकांश गांवों में मरुभूमि के समाज ने अपने दम पर किया था। यह इतना मजबूत था कि उपेक्षा के ताजे लंबे दौर के बाद भी यह किसी न किसी रूप में टिका हुआ है।

गजेटियर में जैसलमेर का वर्णन बहुत डरावना है : "यहां एक भी बारामासी नदी नहीं है। भूजल 125 से 250 फुट और कहीं-कहीं तो 400 फुट नीचे है। वर्षा अविश्वसनीय रूप से कम है, सिर्फ 16.4 सेंटीमीटर। पिछले 70 वर्षों के अध्ययन के अनुसार वर्ष के 35 दिनों में से 355 दिन सूखे गिने जाते हैं।" यानी 120 दिन की वर्षा ऋतु यहां अपने संक्षिप्ततम रूप में केवल 10 दिन के लिए आती है।

लेकिन यह सारा हिसाब-किताब कुछ नए लोगों का है। मरुभूमि के समाज ने संभवतः 10 दिन की वर्षा में करोड़ों बूंद को देखा और फिर उनके एक करने का काम घर-घर, गांव-गांव में और अपने शहरों तक में किया। इस तपस्या का परिणाम सामने है :

जैसलमेर जिले में 515 गांव हैं। इनमें से 53 गांव किसी न किसी वजह से उजड़ चुके हैं। आबाद हैं 462, इनमें से सिर्फ एक गांव को छोड़ हर गांव में पीने के पानी का प्रबंध है। उजड़ चुके गांवों तक में यह प्रबंध कायम मिलता है। सरकार के आंकड़ों के अनुसार जैसलमेर के 99.78 प्रतिशत गांवों तालाब, कुएं और अन्य स्रोत हैं। इनमें नल, ट्यूबवैल जैसे नए इंतजाम कम ही हैं। पता नहीं 1.73 प्रतिशत गांव का क्या अर्थ होता है। पर इस सीमांत जिले के 515 गांवों में से 'इतने' ही गांवों में

बिजली है। इसका अर्थ है कि बहुत-सी जगह ट्यूबवैल बिजली से नहीं डीजल तेल से चलते हैं। तेल बाहर दूर से आता है। तेल का टैंकर न आ पाए तो पंप नहीं चलेंगे, पानी नहीं मिलेगा। सब कुछ ठीक-ठीक चलता रहा तो आगे-पीछे ट्यूबवैल से जलस्तर घटेगा ही। उसे जहां के तहां थामने का कोई तरीका अभी तो नहीं है।

एक बार फिर दुहरा लें कि मरुभूमि के सबसे विकट माने गए इस क्षेत्र में 99.78 प्रतिशत गांवों में पानी का प्रबंध है और अपने दम पर है। इसी के साथ उन सुविधाओं को देखें जिन्हें जुटाना नए समाज की नहीं संस्थाओं, मुख्यतः सरकार की जिम्मेदारी मानी जाती है : पक्की सड़कों से अभी तक केवल 19 प्रतिशत गांव जुड़ पाए हैं, डाक आदि की सुविधा 30 प्रतिशत तक फैल पाई है। चिकित्सा आदि की देखरेख 9 प्रतिशत तक पहुंच सकी है। शिक्षा सुविधा इन सबकी तुलना में थोड़ी बेहतर है - 50 प्रतिशत गांवों में। फिर से पानी पर आए - 515 गांवों में 675 कुएं और तालाब हैं। इसमें तालाबों की संख्या 294 है।

जिसे नए लोगों ने निराशा का क्षेत्र माना वहां सीमा के छोर पर पाकिस्तान से थोड़ा पहले आसूताल यानी आस का ताल है। जहां तापमान 50 अंश छू लेता है वहां सितलाई यानी शीतल तलाई है और जहां बादल सबसे ज्यादा 'धोखा' देते हैं वहां बदरासर भी है लेकिन ऐसी बात नहीं है कि मरुभूमि में पानी का कष्ट नहीं रहा है। लेकिन यहां समाज ने उस कष्ट का रोना नहीं रोया। उन्होंने इस कष्ट को कुछ सरल बना लेने की आस रखी और उस आस के आधार पर अपने को इस तरह के संगठन में ढाल लिया कि एक तरफ पानी की हर बूंद का संग्रह किया और दूसरी तरफ उसका उपयोग खूब किफायत और समझदारी से किया। संग्रह और किफायत के इस स्वभाव को न समझ पाने वाले गजेटियर और जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उस राज और समाज को यह क्षेत्र "वीरान, वीभत्स, स्फूर्तिहीन, और जीवनहीन" दिखता है। लेकिन गजेटियर में यह सब लिख जाने वाला भी जब घड़सीसर पहुंचा है तो "वह भूल जाता है कि वह मरुभूमि की यात्रा पर है।"

कागज में पर्यटन के नक्शों में जितना बड़ा शहर जैसलमेर है, लगभग उतना ही बड़ा तालाब घड़सीसर है। कागज की तरह मरुभूमि में भी ये एक दूसरे से सटे खड़े हैं - बिना घड़सीसर के जैसलमेर नहीं होता। लगभग 800 बरस पुराने इस शहर के कोई 700 बरस, उसका एक-एक दिन घड़सीसर की एक-एक बूंद से जुड़ा रहा है।

रेत का एक विशाल टीला सामने खड़ा है। पास पहुंचने पर भी समझ नहीं आएगा कि यह टीला नहीं, घड़सीसर की ऊंची-पूरी, लंबी-चौड़ी पाल है। जरा और आगे बढ़े तो दो बुर्ज और पत्थर पर सुन्दर नक्काशी के पांच झरोखों और दो छोटी और एक

बड़ी पोल का प्रवेश द्वार सिर उठाए खड़ा दिखेगा। बड़ी और छोटी पोलों के सामने नीला आकाश झलकता है। जैसे-जैसे कदम आगे बढ़ते जाते हैं, प्रवेश द्वार से दिखने वाली झलक में नए-नए दृश्य जुड़ते जाते हैं। यहां तक पहुंच कर समझ में आएगा कि पोल से जो नीला आकाश दिख रहा था, वह तो सामने फैला नीला पानी है। फिर दाईं-बाईं तरफ सुंदर पक्के घाट, मंदिर, पठियाल, बारादरी, अनेक स्तंभों से सजे बरामदे, कमरे तथा और न जाने क्या-क्या जुड़ जाता है। हर क्षण बदलने वाले दृश्य पर जब तालाब के पास पहुंच कर विराम लगता है, तब आंखें सामने दिख रहे सुंदर दृश्य पर कहीं एक जगह टिक नहीं पातीं। हर क्षण पुतलियां घूम-घूम कर उस विचित्र दृश्य को नाप लेना चाहती हैं।

पर आंखें इसे नाप नहीं पातीं। तीन मील लंबे और और कोई एक मील चौड़े आगर वाले इस तालाब का आगौर 120 वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है। इसे जैसलमेर के राजा महारावल घड़सी ने विक्रम संवत् 1391 में यानी सन् 1335 में बनाया था। दूसरे राजा तालाब बनवाया करते थे, लेकिन घड़सी ने तो इसे खुद बनाया था। महारावल रोज ऊंचे किले से उतर कर यहां आते और खुदाई, भराई आदि हरेक काम की देखरेख करते। यों वह दौर जैसलमेर राज के लिए भारी उथल-पुथल का दौर था। भाटी वंश गद्दी की छीना-झपटी के लिए भीतरी कलह, षड़यंत्र और संघर्ष से गुजर रहा था। मामा अपने भानजे पर घात लगाकर आक्रमण कर रहा था, सगे भाई को देश निकाला दिया जा रहा था तो कहीं किसी के प्याले में जहर घोला जा रहा था।

राजवंश में आपसी कलह तो थी ही, उधर राज और शहर जैसलमेर भी चाहे जब देशी-विदेशी हमलावरों से घिर जाता था और जब-तब पुरुष वीर गति को प्राप्त होते और स्त्रियां जौहर की ज्वाला में अपने को स्वाहा कर देतीं।

ऐसे धधकते दौर में खुद घड़सी ने राठौरों की सेना की मदद से जैसलमेर पर अधिकार किया था। इतिहास की किताबों में घड़सी का काल जय-पराजय, वैभव-पराभव, मौत के घाट और समर सागर जैसे शब्दों से भरा पड़ा है।

तब भी यह सागर बन रहा था। वर्षों की इस योजना पर काम करने के लिए घड़सी ने अपार धीरज और अपार साधन जुटाए और फिर इसकी सबसे बड़ी कीमत भी चुकाई थी। पाल बन रही थी, महारावल पाल पर खड़े होकर सारा काम देख रहे थे। राज परिवार में चल रहे भीतरी षड़यंत्र ने पाल पर खड़े घड़सी पर घातक हमला किया। राजा की चिता पर रानी का सती हो जाना उस समय का चलन था। लेकिन रानी विमला सती नहीं हुई। राजा का सपना रानी ने पूरा किया।

रेत के इस सपने में दो रंग हैं। नीला रंग है पानी का और पीला रंग है तीन-चार मील के तालाब की कोई आधी गोलाई में बने घाट, मंदिरों, बुर्ज और बारादरी का। लेकिन यह सपना दिन

में दो बार बस केवल एक ही रंग में रंगा दिखता है। उगते और डूबते समय सूरज घड़सीसर में मन-भर पिघला सोना उड़ेल देता है। मन-भर यानी माप-तौल वाला मन नहीं, सूरज का मन भर जाए इतना!

लोगों ने घड़सीसर में अपने-अपने सामर्थ्य से सोना डाला था। तालाब राजा का था पर प्रजा उसे संवारती, सजाती चली गई। पहले दौर में बने मंदिर, घाट और जलमहल का विस्तार होता गया। जिसे जब भी जो कुछ अच्छा सूझा, उसे उसने घड़सीसर में न्यौछावर कर दिया। घड़सीसर राजा-प्रजा की उस जुगलबंदी में एक अद्भुत गीत बन गया था।

एक समय घाट पर पाठशालाएं भी बनीं। इनमें शहर और आसपास के गांवों के छात्र आकर रहते थे और वहीं गुरु से ज्ञान पाते थे। पाल पर एक तरफ छोटी-छोटी रसोइयां और कमरे भी हैं। दरबार में, कचहरी में जिनका कोई काम अटकता, वे गांवों से आकर यहीं डेरा जमाते। नीलकंठ और गिरधारी के मंदिर बने। यज्ञशाला बनी। जमालशाह पीर की चौकी बनी। सब एक घाट पर। काम-धंधे के कारण मरुभूमि छोड़कर देश में कहीं और जा बसे परिवारों का मन भी घड़सीसर में अटका रहता। इसी क्षेत्र से मध्य प्रदेश के जबलपुर में जाकर रहने वाले सेठ गोविन्ददास के पुरखों ने यहां लौटकर पठसाल पर एक भव्य मंदिर बनवाया था।

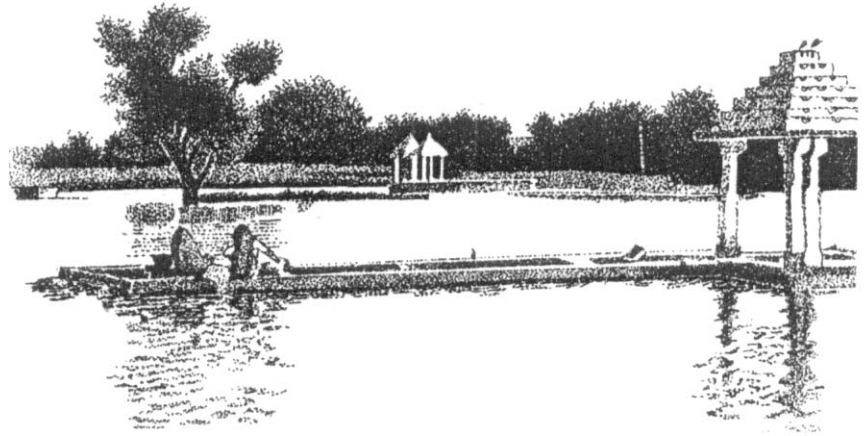
पानी तो शहर-भर का यहीं से जाता था। यों तो दिनभर यहां से पानी भरा जाता लेकिन सुबह और शाम तो सैकड़ों पनिहारियों का मेला लगता। यह दृश्य शहर में नल आने से पहले तक रहा है। सन् 1919 में घड़सीसर पर उम्मेद सिंह जी महेता की एक गजल ऐसे दृश्यों का बहुत सुंदर वर्णन करती है। भादों की कजली-तीज के मेले पर सारा शहर सज-धज कर घड़सीसर आ जाता। सिर्फ नीले और पीले रंग के इस तालाब में तब प्रकृति के सब रंग छिटक जाते।

घड़सीसर से लोगों का प्रेम एकतरफा नहीं था। लोग घड़सीसर आते और घड़सीसर भी लोगों तक जाता था और उनके मन में बस जाता। दूर सिंध में रहने वाली टीलों नामक गणिका के मन ने संभवतः ऐसे ही किसी क्षण में कुछ निर्णय ले लिए थे।

तालाब पर मंदिर, घाट-पाट सभी कुछ था। ठाट में कोई कमी नहीं थी। फिर भी टीलों को लगा कि इतने सुनहरे सरोवर का एक सुनहरा प्रवेश द्वार भी होना चाहिए। टीलों ने घड़सीसर

के पश्चिमी घाट पर 'पोल' यानी प्रवेश द्वार बनाना तय कर लिया। पत्थर पर बारीक नक्काशी वाले सुंदर झरोखों से युक्त विशाल द्वार अभी पूरा हो ही रहा था कि कुछ लोगों ने महाराज के कान भरे, "क्या आप एक गणिका द्वारा बनवाए गए प्रवेश द्वार से घड़सीसर में प्रवेश किया करेंगे।" विवाद शुरू हो गया। उधर द्वार पर काम चलता रहा। एक दिन राजा ने इसे गिराने का फैसला ले लिया। टीलों को खबर लगी। रातों-रात टीलों ने प्रवेश द्वार की सबसे ऊंची मंजिल में मंदिर बनवा दिया। महारावल ने अपना निर्णय बदला। तब से पूरा शहर इसी सुन्दर पोल से तालाब में प्रवेश करता है और बड़े जतन से इसे टीलों के नाम से ही याद रखे है।

टीलों की पोल के ठीक सामने तालाब की दूसरी तरफ परकोटेनुमा एक गोल बुर्ज है। तालाबो के बाहर तो अमराई,



बगीचे आदि होते ही हैं पर इस बुर्ज में तालाब के भीतर बगीची बनी है, जिसमें लोग गोठ करने, यानी आनंद-मंगल मनाने आते रहते थे। इसी के साथ पूरब में एक और बड़ा गोल परकोटा है। इसमें तालाब की रक्षा करने वाली फौज की टुकड़ी रहती थी। देशी विदेशी शत्रुओं से घिरा राज पूरी आबादी को पानी देने वाले इस तालाब की सुरक्षा का भी पक्का प्रबंध रखता था।

मरुभूमि में पानी कितना भी कम बरसता हो, घड़सीसर का आगौर अपने मूलरूप में इतना बड़ा था कि वह वहां की एक-एक बूंद को समेट कर तालाब को लबालब भर देता था। तब तालाब की रखवाली फौज की टुकड़ी के हाथ से निकल कर नेष्टा के हाथ में आ जाती। नेष्टा चलता और इतने विशाल तालाब को तोड़ सकने वाले अतिरिक्त पानी को बाहर बहाने लगता। लेकिन यह 'बहाना' भी बहुत विचित्र था। जो लोग एक-एक बूंद एकत्र कर घड़सीसर भरना जानते थे, वे उसके अतिरिक्त पानी को केवल पानी नहीं जलराशि मानते थे। नेष्टा से निकला पानी आगे एक और तालाब में जमा कर लिया जाता

था। नेष्टा तब भी नहीं रुकता तो इस तालाब का नेष्टा भी चलने लगता। फिर उससे भी एक और तालाब भर जाता। यह सिलसिला, पूरे नौ तालाबों तक चलता रहता। नौताल, गोविंदसर, जोशीसर, गुलाबसर, भाटियासर, सूदासर, मोहतासर, रतनसर और किसनघाट। यहां तक पहुंचने पर भी पानी बचता तो किसनघाट के बाद उसे कई बेरियों में, यानी छोटे-छोटे कुएंनुमा कुंडों में भरकर रख लिया जाता। पानी की एक-एक बूंद जैसे शब्द और वाक्य घड़सीसर से किसनघाट तक के सात मील लंबे क्षेत्र में अपना ठीक अर्थ पाते थे।

लेकिन आज जिनके हाथ में जैसलमेर है, राज है, वे घड़सीसर का ही अर्थ भूल चले हैं तो उसके नेष्टा से जुड़े नौ तालाबों की याद उन्हें भला कैसे रहेगी! घड़सीसर के आगौर में वायुसेना का हवाई अड्डा बन गया है। इसलिए आगौर के इस हिस्से का पानी अब तालाब की ओर न आकर कहीं और बह जाता है। नेष्टा और उसके रास्ते में पड़ने वाले नौ तालाबों के आसपास बेतरतीब बढ़ते शहर के मकान, नई गृह निर्माण समितियां, और तो और पानी का ही नया काम करने वाला इंदिरा नहर प्राधिकरण का दफ्तर, उसमें काम करने वालों की कालोनी बन गई है।

घाट, पठसाल, पाठशालाएं, रसोई, बरामदे, मंदिर ठीक सार-संभाल के अभाव में धीरे-धीरे टूट चले हैं। आज शहर ल्हास का वह खेल भी नहीं खेलता, जिसमें राजा-प्रजा सब मिलकर घड़सीसर की सफाई करते थे, साद निकालते थे। तालाब के किनारे स्थापित पत्थर का जलस्तंभ भी थोड़ा-सा हिलकर एक तरफ झुक गया है। रखवाली करने वाली फौज की टुकड़ी के बुर्ज के पत्थर भी ढह गए हैं।

फिर भी 668 बरस पुराना घड़सीसर मरा नहीं है। बनाने वालों ने उसे समय के थपेड़े सह जाने लायक मजबूती दी थी। रेत की आंधियों के बीच अपने तालाबों की उम्दा सार-संभाल की परंपरा डालने वालों को शायद इसका अंदाज नहीं था कि कभी उपेक्षा की आंधी भी चलेगी। लेकिन इस आंधी को भी घड़सीसर और उसे आज भी चाहने वाले लोग बहुत धीरज के साथ सह रहे हैं। तालाब पर पहरा देने वाली फौज की टुकड़ी आज भले ही नहीं हो, लोगों के मन का पहरा आज भी है।

पहली किरन के साथ मंदिरों की घंटियां बजती हैं। दिन भर लोग घाटों पर आते-जाते हैं। कुछ लोग यहां घंटों मौन बैठे-बैठे घड़सीसर को निहारते रहते हैं तो कुछ गीत गाते और रावण हत्था, एक तरह की सारंगी बजाते हुए मिलते हैं।

पनिहारिनें आज भी घाटों पर आती हैं। पानी ऊंट गाड़ियों से भी जाता है दिन में कई बार ऐसी टैंकर गाड़ियां भी यहां देखने को मिल जाती हैं, जिनमें घड़सीसर से पानी भरने के लिए डीजल पंप तक लगा रहता है।

घड़सीसर आज भी पानी दे रहा है। और इसीलिए सूरज

आज भी उगते और डूबते समय घड़सीसर में मन-भर सोना उड़ेल जाता है।

घड़सीसर मानक बन चुका था। उसके बाद किसी और तालाब को बनाना बहुत कठिन रहा होगा। पर जैसलमेर में हर सौ-पचास बरस के अंतर पर तालाब बनते रहे - एक से एक, मानक के साथ मोती की तरह गुंथे हुए हैं।

घड़सीसर से कोई 175 बरस बाद बना था जैतसर। यह था तो बंधनुमा तालाब ही पर अपने बड़े बगीचे के कारण बाद में बस इसे 'बड़ा बाग' की तरह ही याद रखा गया। इस पत्थर के बांध ने जैसलमेर के उत्तर की तरफ खड़ी पहाड़ियों से आने वाला सारा पानी रोक लिया है। एक तरफ जैतसर है और दूसरी तरफ उसी पानी से सिंचित बड़ा बाग। दोनों का विभाजन करती है बांध की दीवार। लेकिन यह दीवार नहीं, अच्छी-खासी चौड़ी सड़क लगती है जो घाटी पार कर सामने की पहाड़ी तक जाती है। दीवार के नीचे बनी सिंचाई नाली का नाम है राम नाल।

राम नाल नहर, बांध की तरफ सीढ़ीनुमा है। जैतसर में पानी का स्तर ज्यादा हो या कम, नहर का सीढ़ीनुमा ढांचा पानी को बड़े बाग की तरफ उतारता रहता है। बड़ा बाग में पहुंचने पर राम नाल राम नाम की तरह कण-कण में बंट जाती है। नहर के पहले छोर पर एक कुआं भी है। पानी सूख जाए, नहर बंद हो जाए तो रिसन से भरे कुएं का उपयोग होने लगता है। उधर बांध के उस पार आगर का पानी सूखते ही उसमें गेहूं बो दिया जाता है। तब बांध की दीवार के दोनों ओर बस हरा ही हरा दिखता है।

हरा बाग सचमुच बहुत बड़ा है। विशाल और ऊंची अमराई और उसके साथ-साथ तरह-तरह के पेड़-पौधे। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में, वहां भी प्रायः नदी किनारे मिलने वाला अर्जुन का पेड़ भी बड़ा बाग में मिल जाएगा। बड़ा बाग में सूरज की किरणों पेड़ों की पत्तियों में अटकी रहती हैं, हवा चले, पत्तियां हिलें तो मौका पाकर किरणें नीचे छन-छन कर टपकती रहती हैं। बांध के उस पार पहाड़ियों पर राजघराने का शमशान है। यहां दिवंगतों की स्मृति में असंख्य सुंदर छतरियां बनी हैं।

अमर सागर घड़सीसर से 325 साल बाद बना। किसी और दिशा में बरसने वाले पानी को रोकना मुख्य कारण रहा ही होगा लेकिन अमर सागर बनाने वाले संभवतः यह जताना चाहते थे कि उपयोगी और सुंदर तालाबों को बनाते रहने की इच्छा अमर है। पत्थर के टुकड़ों को जोड़-जोड़कर कितना बेजोड़ तालाब बन सकता है - अमर सागर इसका अद्भुत उदाहरण है। तालाब की चौड़ाई की एक भुजा सीधी खड़ी ऊंची दीवार से बनाई गई है। दीवार पर जुड़ी सुंदर सीढ़ियां झरोखों और बुर्ज में से होती हुई नीचे तालाब में उतरती हैं। इसी दीवार के बड़े सपाट भाग में अलग-अलग ऊंचाई पर पत्थर के हाथी-घोड़े बने हैं। ये सुंदर सजी-धजी मूर्तियां तालाब का जलस्तर बताती हैं। अमर सागर

का आगौर इतना बड़ा नहीं है कि वहां से ताल भर का पानी जमा हो जाए। गर्मी आते-आते तालाब सूखने लगता है। इसका अर्थ था कि जैसलमेर के लोग इतने सुंदर तालाब को उस मौसम में भूल जाएं, जिसमें पानी की सबसे ज्यादा जरूरत रहती!

जैसलमेर के शिल्पियों ने यहां कुछ ऐसे काम किए, जिनसे शिल्पशास्त्र में कुछ नए पन्ने जुड़ सकते हैं। यहां तालाब के तल में सात सुंदर बेरियां बनाई गईं। बेरी यानी एक तरह की बावड़ी। यह पगबाब भी कहलाती है। पगबाब शब्द पगवाह से बना है। वाह या बाय या बावड़ी। पगबाब यानी जिसमें पानी तक पग, पग, पैदल ही पहुंचा जा सके। तालाब का पानी सूख जाता है, लेकिन उसके रिसाव से भूमि का जल स्तर ऊपर उठ जाता है। इसी साफ छने पानी से बेरियां भरी रहती हैं। बेरियां भी ऐसी बनी हैं कि ग्रीष्म में अपना जल खो बैठा अमर सागर अपनी सुंदरता नहीं खो देता। सभी बेरियों पर पत्थर के सुंदर चबूतरे, स्तंभ, छतरियां और नीचे उतरने के लिए कलात्मक सीढ़ियां। गर्मी में, बैसाख में मेला भरता और बरसात में, भादों में भी। सूखे अमर सागर में ये बेरियां किसी महल के टुकड़े लगती हैं और जब यह भर जाता है तो लगता है कि तालाब में छतरीदार बड़ी-बड़ी नावें तैर रही हैं।

जैसलमेर मरुभूमि का एक ऐसा राज रहा है, जिसका व्यापारी दुनिया में डंका बजता था। फिर मंदी का दौर आया पर जैसलमेर और उसके आसपास के तालाब बनाने का काम मंदा नहीं पड़ा। गजरूप सागर, मूल सागर, गंगा सागर, गुलाब तालाब और ईसरलाल जी का तालाब - एक के बाद एक तालाब बनते चले गए। यह कड़ी अंग्रेजों के आने तक टूटी नहीं थी।

इस कड़ी की मजबूती सिर्फ राजाओं, रावलों, महारावलों पर नहीं छोड़ी गई थी। समाज के वे अंग भी, जो आज की परिभाषा में आर्थिक रूप से कमजोर माने जाते हैं, तालाबों की कड़ी को मजबूत बनाए रखते थे।

मेघा ढेर चराया करता था। यह किस्सा 500 बरस पहले का है। पशुओं के साथ मेघा भोर सुबह निकल जाता। कोसो तक फैला सपाट रेगिस्तान। मेघा दिन भर का पानी अपने साथ एक कुपड़ी, मिट्टी की चपटी सुराही में ले जाता। शाम वापस लौटता। एक दिन कुपड़ी में थोड़ा-सा पानी बच गया। मेघा को न जाने क्या सूझा, उसने एक छोटा सा गड्ढा किया, उसमें कुपड़ी का पानी डाला और आक के पत्तों से गड्ढे को अच्छी तरह ढंक दिया। चराई का काम। आज यहां, कल कहीं और। मेघा दो दिन तक उस जगह पर नहीं जा सका। वहां वह तीसरे दिन पहुंच पाया। उत्सुक हाथों ने आक के पत्ते धीरे से हटाए। गड्ढे में पानी तो नहीं था पर ठण्डी हवा आई। मेघा के मुंह से शब्द निकला - 'भाप'। मेघा ने सोचा कि यहां इतनी गर्मी में थोड़े से पानी की नमी बची रह सकती है तो फिर यहां तालाब भी बन सकता है।

मेघा ने अकेले ही तालाब बनाना शुरू किया। अब वह रोज अपने साथ कुदाल-तगड़ी भी लाता। दिन भर अकेले मिट्टी खोदता और पाल पर डालता। गाएं भी वहीं आसपास चरती रहतीं। भीम जैसी शक्ति नहीं थी, लेकिन भीम की शक्ति जैसा संकल्प था मेघ के पास। दो वर्ष तक वह अकेले ही लगा रहा। सपाट रेगिस्तान में पाल का विशाल घेरा अब दूर से ही दिखने लगा था। पाल की खबर गांव को भी लगी।

अब रोज सुबह गांव से बच्चे और दूसरे लोग भी मेघा के साथ आने लगे। सब मिलकर काम करते। 12 साल हो गए थे, अब भी विशाल तालाब पर काम चल रहा था। लेकिन मेघा की उमर पूरी हो गई। पत्नी सती नहीं हुई। अब तालाब पर मेघा के बदले वह काम करने आती। छह महीने में तालाब पूरा हुआ।

भाप के कारण बनना शुरू हुआ था, इसलिए इस जगह का नाम भी भाप पड़ा जो बाद में बिगड़कर बाप हो गया। चरवाहे मेघा, को समाज ने मेघोजी की तरह याद रखा और तालाब की पाल पर ही उनकी सुंदर छतरी और उनकी पत्नी की स्मृति में वहीं एक देवली बनाई गई।

बाप बीकानेर-जैसलमेर के रास्ते में पड़ने वाला छोटा-सा कस्बा है। चाय और कचौरी की 5-7 दुकानों वाला बस अड्डा है। बसों से तिगुनी ऊंची पाल अड्डे के बगल खड़ी है। मई-जून में पाल के इस तरफ लू चलती है, उस तरफ मेघोजी तालाब में लहरे उठती हैं। बरसात के दिनों में तो लाखेटा (द्वीप) 'लग' जाता है। तब पानी 4 मील में फैल जाता है।

मेघ और मेघराज भले ही यहां कम आते हों, लेकिन मरुभूमि में मेघोजी जैसे लोगों की कमी नहीं रही। पानी के मामले में इतना योग्य बन चुका समाज अपनी योग्यता को, कौशल को, अपना बताकर घमंड नहीं करता। वह विनम्र भाव से इसका पूरा श्रेय भगवान को सौंप कर सिर झुका लेता है। कहते हैं कि महाभारत युद्ध समाप्त हो जाने के बाद श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र से अर्जुन को साथ लेकर द्वारिका जा रहे थे। उनका रथ मरुप्रदेश पार कर रहा था। आज के जैसलमेर के पास त्रिकूट पर्वत पर उन्हें उत्तुंग ऋषि तपस्या करते हुए मिले। श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया और फिर वर मांगने को कहा। उत्तुंग का अर्थ है ऊंचा। सचमुच ऋषि ऊंचे थे। उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं मांगा। प्रभु से प्रार्थना की कि यदि मेरे कुछ पुण्य हैं तो भगवान वर दें कि इस क्षेत्र में कभी जल का अभाव न रहे।

मरुभूमि के समाज ने इस वरदान को एक आदेश की तरह लिया और अपने कौशल से मृगतृष्णा को झुठला दिया।

क्रमशः

(साभार : आज भी खरे हैं तालाब)

आचारों से खाली विचारों का महाकुंभ

■ मेधा पाटकर

सिंहस्थ मेला हजारों साधुओं और कुछ लाख श्रद्धालुओं से सजधज कर प्रकाश में आया। मध्यप्रदेश के ही नहीं, दिल्ली, मुंबई तक के रास्तों, वाहनों, भवनों पर प्रचार सामग्री के बाद भीड़ कम आने की बात उठी। पांच हजार करोड़ रुपए खर्च करने को लेकर पर भी सवाल उठे। नेनोरा गांव में किसानों की जमीन छीन कर जो सीमेंट, कंक्रीट के रास्ते आदि बनाए गए उस पर भी किसानों ने आक्रोश जताया। मगर आयोजकों ने इसके साथ ही पचासी करोड़ रुपए से अधिक खर्च करके 'मंथन' नाम से दो दिवसीय सम्मेलन करते हुए सिंहस्थ को एक अलग रूप-रंग देने की कोशिश की। भगवा के साथ दलितों का नीला और किसानों तथा पर्यावरण का हरा रंग देने की कोशिश की गई। यह रंजिश थी या साजिश यह सवाल विचारशील, संवेदनशील नागरिक के मन में उठना ही है, अगर वह जमीनी हकीकत जरा नजदीक से जांच ले। प्रधानमंत्रीजी दुनिया को अमृत संदेश देना चाहते हैं, जो उनकी 'मन की बात' हो सकती है, अच्छी बात है, लेकिन वह उनकी नैतिक विचारधारा नहीं हो सकती।

क्षिप्रा की धारा को अमृतधारा कहने वाले, उसमें स्नान करने वाले क्षिप्रा की हालत के प्रति तब तक संवेदनहीन थे, जब तक उनके इर्दगिर्द उज्जैन, रतलाम, नीमच, मंदसौर जिलों में हजारों हेक्टेयर जमीन किसानों से छीन कर उद्योगपतियों को देने की योजना उभरी नहीं थी। जब दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे (इंडस्ट्रियल कॉरिडोर) की बात उठी, दस हजार हेक्टेयर से अधिक औद्योगिक क्षेत्र बनाने और प्रत्येक में बीस हजार करोड़ के पूंजी निवेश और उन्हें जमीन के साथ पर्याप्त पानी देने, इसके लिए कहीं से भी खींच कर पानी लाने की बात थी, और नर्मदा को जोड़ने वाली क्षिप्रा नदी भरने की योजना बनी। नर्मदा-क्षिप्रा लिंक, मूल ऑकारेश्वर परियोजना के विपरीत, नर्मदा से प्रति सेकंड पांच हजार लीटर पानी उठा रहा है आज, जिसकी मात्रा प्रतिदिन तिरालीस करोड़ लीटर है। तो आज क्षिप्रा में नहाने वाले क्षिप्रा अमृत स्नान या नर्मदा अमृत स्नान कर रहे हैं, यह तो सोचें।

क्षिप्रा की हालत पर भी सोचा गया क्या विचार कुंभ में? जलवायु परिवर्तन पर चर्चा हुई, जिसमें नदियों की बात उभरी, लेकिन अखबारों में आए नामों में क्षिप्रा का नाम देखने को नहीं मिला, न ही नर्मदा का। क्षिप्रा का इसलिए नहीं, क्योंकि नदियों की धारा समाप्त करने वालों की पोल खुल जाती, क्योंकि आज

तक क्षिप्रा की हालत, गंगा-यमुना जितनी बुरी, गंदी, प्रदूषित नहीं हुई है। यानी भूत और भविष्य की बात छिपा कर हुई है चर्चा : जैसी कई बार 'सूखे' पर होती है।

सच्चाई तो यह है कि जलवायु परिवर्तन का मुख्य कारण है हमारी जीवन प्रणाली, हमारी जल नीति, ऊर्जा नीति, वन नीति, खेती पद्धति भी। भारतीय प्रकृति और संस्कृति को तबाह करने वाली हर चीज आगे बढ़ाने वाले शासन आज पूंजी निवेश की चर्चा करते हैं, तो केवल आर्थिक पूंजी की। उसी के आधार पर मानव सब कुछ हासिल कर लेना चाहता है। नदी को, पहाड़ को, खनिज को, भूमि को, पेड़-पौधों को, 'पूंजी' मानें तो उन्हें भी पैसों में गिना जाता है और उन्हें जीवन आधार मानने वालों को पिछड़ा समझ कर जबरन पैसा देकर हटाया जाता है। इस बदलाव को 'विकास' मानने वाले ही जलवायु यानी तापमान, प्राकृतिक संतुलन, सब कुछ बनाने की बहस करते हैं। हमारे इच्छादान के बिना न यह संतुलन संभव है, न ही जल पुनर्भरण। यह सरल सिद्धांत नहीं, अनुभव को नकार रहे आज के वैज्ञानिकों को क्या 'विज्ञान अध्याय' के नए जोड़ पर भव्य, दिव्य किंतु विनाशक 'नदी जोड़' पर कोई विचार या पुनर्विचार करने के लिए सिंहस्थ से कोई निष्कर्ष निकला?

ग्रामीण क्षेत्र की कमोबेश सादगी, स्वावलंबन और समता की भी संस्कृति को ऐसे विचार मंथन में स्थान जरूर मिलता है, लेकिन क्या वही स्थान और सम्मान, विकास नीति में दिया जा रहा है? क्षिप्रा के इर्दगिर्द जहां साठ-सत्तर प्रतिशत खेती हो रही है, वहां उसकी कब्र बना कर उद्योगों को महलों के रूप में स्थापित किया जा रहा है। इंदौर जैसे शहर में जहां न पहले अतिक्रमण था, न अनधिकृत जगहें, वहां पुरानी, अधिकृत धरोहरें थीं, बस्तियों में मेहनतकशों की सच्ची कमाई से बनी छोटी-बड़ी दुकानें, व्यवसाय थे, वे सब ध्वस्त किए जा रहे हैं। न शासन के पास देने को पर्याप्त रोजगार है, न आबटित करने को खेत, फिर भी शहरी निर्माण या हर बड़े बांध से लाखों किसानों, मजदूरों को उजाड़-उखाड़ कर फेंका जाता है, 'विकास' के नाम पर। क्या इन परिवर्तनों से 'स्मार्ट' बनने वाले शहर ग्रामोद्योग, प्राकृतिक संपदा की रक्षा, प्रदूषणमुक्त, कार्बनमुक्त जीवन प्रणाली या स्वस्थ जीवन की परिभाषा को आगे बढ़ाने वाले हैं?

नदी को जलकुंभ के रूप में देखने वाले यह सोचें कि उसमें पानी बहेगा तो कैसे? जरूरी है उसके जलग्रहण क्षेत्र की रक्षा और विकास। जलग्रहण क्षेत्र का विकास तभी संभव है जब

वहां कम से कम उथल-पुथल हो, उत्खनन पर रोक लगे, पेड़-पौधों की संख्या बढ़े और उपनदियों और नालों के भी जलग्रहण को घेरे में लिया जाए, चेकडैम या अन्य मर्यादित अवरोध के अलावा बांध आदि के जरिए नदी को न रोका जाए, उसे बहने दिया जाए। क्या यह दिशा है नदी कछार के विकास की? नहीं।

क्षिप्रा के कछार में नॉलेज सिटी यानी सत्रह उद्योगों से लेकर औद्योगिक क्षेत्र के तहत रीअल एस्टेट से शापिंग मॉल, स्वीमिंग पूल तक सब कुछ नियोजित है। नर्मदा के कछार में जहां सबसे ऊपरी क्षेत्र में जलाशय बने हैं या बनने जा रहे हैं, वहीं पंद्रह ताप विद्युत योजनाएं और चुटका जैसी परमाणु ऊर्जा योजना की भरमार लगाना चाहता है शासन। ओंकारेश्वर, इंदिरा सागर की नहरों के किनारे, नहरें बनने के भी पहले से अडानी, एनटीपीसी की परियोजनाओं के लिए खेतों और पानी को सुरक्षित कर दिया गया और अब नहरों के किनारे के हर क्षेत्र की खेती लायक जमीन पर औद्योगिक क्षेत्र थोपने की तैयारी हो चुकी है। नागदा में बिड़ला की फैक्ट्री के प्रदूषण से परेशान हैं लोग। कल नर्मदा के कछार में क्या होगा, इसकी न कोई सोच है न सर्वसमावेशी अध्ययन।

आज केंद्र और राज्य सरकारें पर्यावरणीय मंजूरी, पुनर्वास के बिना, आगे धकेलने को विकास की अवधारणा मानती हैं। जंगलों को डुबाया-काटा तो जा ही रहा है, हर बड़ी नदी और उप-नदियों के बीच और किनारे के क्षेत्र में राजनीति के दबाव में 'मंजूरी' पाकर, शर्तें तोड़-मरोड़ कर अवैध खनन चल रहा है। अवैध खनन नदी कछार के जलचक्र को खत्म करता जा रहा है। इससे पानी की शुद्धता नष्ट हो रही है और मछलियों की मात्रा घट रही है। आज क्षिप्रा मृतप्राय हो गई है, तो नर्मदा से पानी लाकर उत्सव मनाया जा रहा है। कल नर्मदा के खत्म होने पर किसे उजाड़ेंगे?

ग्रामोद्योग और गृह उद्योग की विपुल संभावनाएं होते हुए भी मध्यप्रदेश में प्राकृतिक संपदा, खेती उपज के आधार पर छोटे, प्रदूषणमुक्त उद्योग लगाने का सोचा भी है शासकों ने? बिना विस्थापन, कम से कम विस्थापन, भूमि उपयोग में बदलाव के साथ, खेती बचा कर, उजाड़ कर, जमीन में उद्योग खड़े करने की दिशा है नियोजन में। इन्होंने तो मॉरिशस से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक के विदेशी, बड़े पूंजीपतियों को, अंबानी, अडानी जैसे बड़े

घरानों को खुला न्योता एक से अधिक खर्चीले सम्मेलन करते हुए कह दिया है कि आइए, आपको जो भी, जहां भी लगाना है उद्योग, लगाइए... आपके लिए नर्मदा जैसी नदी का पानी ही नहीं, जहां चाहिए जमीन उपलब्ध है। हमारे किसान भुगतेंगे विस्थापन, नहरों का पानी न मिलने के बाद तरसेंगे, लड़ते रहेंगे, उनके लिए भी। खेती और अन्य सुरक्षा प्रभावित हुई तो क्या? बड़े उद्योगों को पोषणकर्ता ग्रामोद्योग की चर्चा करते हैं स्थानिक संसाधनों पर आधारित विकास की, स्थानिकों को प्रथम अधिकार देकर, उनके बलबूते पर ही खेती आधारित औद्योगीकरण की योजनाएं नहीं बना सकते। बड़े पूंजीपति, जिलाधीश उद्योगपतियों को पर्यटन तक की इंडस्ट्री बहाल करने वाले, स्थानिकों से अत्यधिक भूअधिग्रहण और विस्थापितों को केवल पुनर्वास के आश्वासन आंकते हैं, इसका प्रतीक है नर्मदा का एक-एक बड़ा बांध। क्या विचार कुंभ में इस पर भी बहस हुई है?

यानी विचारों के महाकुंभ के बाद किसानों की जमीन छीनने आदि को लेकर क्या कोई आचार संहिता भी उभर कर आएगी, मप्र और अन्य राज्यों तथा केंद्र के शासकों में? क्या उनकी विकास प्रणाली में, खुद की जीवन प्रणाली में, पूंजी, बाजार आधारित नियोजन के बदले प्राकृतिक संसाधन, प्राकृतिक निरंतरता, सादगी, पूर्ण विकास, रोजगार और सरल तकनीकी आधारित उद्योगों के प्रति,

ऊर्जा निर्माण में भी निरंतर परिवर्तनीय ऊर्जा, जो अपारंपरिक नहीं है, इसके प्रति समझ बढ़ेगी, क्या विस्थापन के बदले, नदी घाटियों के किसान, कारीगर, मजदूरों को, पहाड़ियों, आदिवासियों को शहर के गरीब और निम्न मध्यवर्गियों को, पीढ़ियों पुराने गांव और व्यवसायियों को भी स्वयं विकास, स्वावलंबी विकास में बिना बर्बाद हुए सहभागिता का अवसर प्राप्त होगा? क्या विचार-विमर्श में उनकी खाहिशों को, उनके अनुभवों को शामिल किया जाएगा? या फिर चार दिन या महीने भर का विचार महाकुंभ क्षिप्रा के साथ नर्मदा को भी खाली करने और राजनेताओं और शासन की या अन्य समाज की तिजोरी भरने की ओर बढ़ेगा? या भ्रष्ट अधिकारी और राजनेता जनतंत्र के हर स्तंभ को ध्वस्त करते हुए 'शासकीय सुरक्षा' पाकर हर योजना को मूल उद्देश्यों से भी विपरीत दिशा में ले जाएंगे? क्षिप्रा-नर्मदा जोड़ साथ होनी हो, तो जो क्षिप्रा का हुआ, उसके जलग्रहण क्षेत्र के कछार के गांवों, खेतीहरों का हुआ वही नर्मदा का न हो, यह देखना होगा।

(साभार : जनसत्ता)

हममें से देशद्रोही कौन नहीं है?

■ सुभाष गाताडे

राष्ट्रवाद या यूँ कहें कि ऑफिशियल राष्ट्रवाद इन दिनों सुर्खियों में है। एक तरफ 'भारत माता की जय' का नारा लगाते हुए और दूसरे ही सुर में मां-बहनों के नाम अपशब्दों की बौछार करते हुए लंपटों के गिरोह हर स्वतंत्रमना व्यक्ति को लातों-मुकों से, या जैसा कि बीते दिनों इलाहाबाद की कचहरी में देखने को मिला, लोग लाठियों की मार से राष्ट्रवाद का असली मतलब समझा रहे हैं। शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर टूट पड़ते दिख रहे इन निक्करधारी गिरोहों के साथ जगह-जगह खाकी वर्दीधारियों की भी मौन सहमति नजर आ रही है। और दिख रहा है कि आप अगर किसी को मार भी डालें और सफाई में यह कह दें कि वह पाकिस्तान जिंदाबाद कह रहा था तो उसे माफ कर दिया जाएगा।

विडंबना ही है कि इन दिनों देश की किस्मत के आका कहे जाने वाले लोग नकली ट्वीट की बैसाखी के सहारे ऐसे तमाम उत्पातों, उपद्रवों और उदंडता को वैधता का जामा पहनाते नजर आ रहे हैं। आए दिन हो रही संविधान की इस खुल्लमखुल्ला अनदेखी को लेकर संविधान को सबसे पवित्र किताब का दर्जा देने वाले वजीर-ए-आजम मोदी भी अपना मौन बनाए हुए हैं। अंधराष्ट्रवाद की आंधी चलाने की तेज होती कोशिशों को देखते हुए बरबस राजेश जोशी की बहुचर्चित कविता की पंक्तियां साकार होती दिख रही हैं कि 'जो इस कोलाहल में शामिल नहीं होंगे मारे जाएंगे।'

ध्यान रहे कि अब तक ऐसे स्वयंभू राष्ट्रभक्तों की नजर में 'समुदाय विशेष' के लोग ही राष्ट्र के पंचम स्तंभ अर्थात् भेदिये थे - मिसाल के तौर पर, संघ के सुप्रीमो गोलवलकर ने अपनी किताब 'बंच ऑफ थॉट्स' अर्थात् 'विचार सुमन' में बाकायदा कुछ समुदायों को चिह्नित किया है जिसमें वे लिखते हैं, 'बाहरी आक्रमणकारियों की तुलना में देश के अंदर मौजूद दुश्मन तत्व ही राष्ट्र की सुरक्षा के लिए बड़ा खतरा हैं।' किताब के आंतरिक खतरे नामक अध्याय में वे मुसलमानों, ईसाइयों और कम्युनिस्टों को इस श्रेणी में रखते हैं और उसके बाद एक लंबे आलेख में इन समूहों की देशभक्ति को संदेह के दायरे में रखते हैं (देखें - रामचंद्र गुहा, 'द हिंदू,' 28 नवंबर, 2006)। मगर मामला अब काफी आगे बढ़ गया है। अब हर वह शख्स उनकी निगाह में राष्ट्रद्रोही है जो उनकी हां में हां नहीं मिलाता है, उनके साथ कदमताल करने को तैयार नहीं है और सबसे बढ़कर असहमति

की आवाजों का होना जनतंत्र का प्रमुख गुण समझता है।

फिर कोई रोहित वेमुला जैसा प्रचंड प्रतिभाशाली दलित युवक और डॉ. अबेडकर के विचारों को साकार करने में मुक्तिला उसका संगठन 'अबेडकर स्टूडेंट्स एसोसिएशन' एंटीनेशनल अर्थात् राष्ट्रद्रोही की कतार में आ सकता है, तो उधर, सोनी सोरी जैसी छत्तीसगढ़ की आदिवासी स्त्री - जिसके यौनांगों में पत्थर भरकर उसे किसी रणबांकुरे पुलिस अफसर ने राष्ट्र के असली मायने समझाने की कोशिश की थी - और जो आज भी कॉरपोरेट लूट के खिलाफ अलख जगा रही है, उस पर भी दोबारा एसिड से हमला करके उसे उन्हीं 'राष्ट्रद्रोहियों' की कतार में खड़ा किया जा सकता है या तमिल लोकगायक कोवन सरकार की शराब नीतियों का अपने गीतों में विरोध करने के लिए देशद्रोह के आरोपों के तहत जेल में ठूसा जा सकता है या कोई प्रिया पिर्लाई जो पर्यावरण को लेकर कॉरपोरेट साजिशों का खुलासा करने का जोखिम उठा सकती है, वह भी एंटीनेशनल करार दी जा सकती है।

यह अकारण नहीं कि जी. संपथ 'द हिंदू' के अपने आलेख में लिखते हैं, 'संघ परिवार की इस राष्ट्रवादी नामकरण शैली में अब मध्य भारत के आदिवासी, दलित छात्र, वामपंथी बुद्धिजीवी, मानवाधिकार कार्यकर्ता, एक खास धार्मिक अल्पसंख्यक, नाभिकीय ऊर्जा विरोधी कार्यकर्ता, बीफ खाने वाले, पाकिस्तान से नफरत न करने वाले, अंतरधर्मीय जोड़े, समलैंगिक, मजदूरों के संगठनकर्ता सभी राष्ट्रद्रोही हैं।' (देखें- द हिंदू, 17 फरवरी, 2016)

वैसे इन दिनों इन स्वयंभू राष्ट्रवादियों ने देश के अग्रणी विश्वविद्यालयों में से एक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को ही राष्ट्रद्रोहियों का अड्डा साबित करने की मुहिम छेड़ी है और जिसके लिए 9 फरवरी की रात में वहां आयोजित एक कार्यक्रम को बहाना बनाया गया है। निश्चित ही हुक्मरानों को लगता है कि देशद्रोह के इर्द-गिर्द हौवा खड़ा करके वह अपनी तमाम नाकामियों, अपनी आर्थिक असफलताओं, अपनी अमीरपरस्त नीतियों पर परदा डाले रख सकते हैं और सबसे बढ़कर इस देश के पूंजीपतियों को कई लाख करोड़ रुपये के कर्जे से एक ही रात में मुक्ति दिलाने के उनके कदम के प्रति उठ रहे विरोध के स्वर को दबा सकते हैं। लेकिन उन्हें अंदाजा नहीं है कि इस बहस को खड़ा करके उन्होंने अपने विवादास्पद इतिहास के प्रति भी लोगों में रुचि नए सिरे से जगा दी है। आजादी का आंदोलन ऐसा

शेष पेज 12 पर

पारिस्थितिकी तंत्र का अर्थशास्त्र

नई यूएन रिपोर्ट के अनुसार कोई भी उद्योग मुनाफे में नहीं रहेगा यदि पर्यावरण सम्बन्धी लागत भी आंतरिक खर्चों में शामिल कर ली जाए।

- माईकल थॉमस

अगर आप अपनी ही दुनिया में मुक्तिला रहे हैं तो मैं जो आपको बताने जा रहा हूँ उसे मानने में आपको बहुत मशकिल होगी। फिर हर कंपनी अपने आपको पर्यावरण का मित्र साबित करने के लिए पूरी तरह से प्रयासरत रहती है भले ही वह दरअसल आपकी ज़मीनों को रेगिस्तान में और पानी के स्रोतों को सूखे कुओं में बदलने की ज़िम्मेदार ही क्यों ना हो। ये कंपनियां करोड़ों खर्च करती हैं ताकि उनकी सामाजिक रूप से ज़िम्मेदार, प्रगतिशील और पर्यावरण को लेकर सजग होने की छवि बने। इसलिए लोग इन कंपनियों के द्वारा पर्यावरण को पहुँचने वाले नुकसान की कल्पना भी नहीं कर पाते। मार्क ट्वेन ने कभी कहा था, 'लोगों को यह यकीन दिलाना की उन्हें मूर्ख बना दिया गया है दरअसल उन्हें मूर्ख बनाने की तुलना में कहीं ज्यादा मुश्किल है।' दुर्भाग्यवश पर्यावरण के सन्दर्भ में ये बात बिल्कुल सही है।

वर्तमान व्यवस्था से जुड़ी एक गंभीर सच्चाई ये है की इस व्यवस्था के तहत निगमों के ऊपर से सामाजिक और पर्यावरण सम्बन्धी लागत चुकाने का बोझ हट जाता है। (इस लेख में हम केवल पर्यावरण सम्बन्धी लागत की ही चर्चा करेंगे)। इस बोझ के हट जाने का मतलब यह हुआ की आपके खर्चों के एक हिस्से का भुगतान कोई और करे। उदाहरण के लिए जब मेक्सिको की खाड़ी में बड़े स्तर पर तेल का रिसाव हुआ था (सन 2010) तब ब्रिटिश पेट्रोलियम कंपनी ने सारा मुनाफा तो अपनी जेब में भर लिया था पर पर्यावरण को हुए नुकसान का भुगतान करने के लिए सरकार को मजबूर कर दिया था। इस त्रासदी से निपटने के लिए कंपनी ने दिखावे पूर्ण प्रयासों के अलावा और कोई कदम नहीं उठाया था।

पर्यावरण सम्बन्धी आंकड़ों की विशेषज्ञ संस्था 'ट्रूकॉस्ट' की तरफ से अभी एक रिपोर्ट जारी की गई है। यह रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यावरण कार्यक्रम के द्वारा प्रायोजित थी और 'पारिस्थितिकी तंत्रों का अर्थशास्त्र और जैव-विविधता कार्यक्रम' की तरफ से जारी की गयी थी। इस रिपोर्ट में इस दुनिया के बड़े उद्योगों द्वारा कमाये जाने वाले पैसों का आकलन किया गया था। साथ ही इस मुनाफे की तुलना सौ विभिन्न तरीकों के पर्यावरण सम्बन्धी खर्चों से की गयी थी। चीजों को थोड़ा सरल रखने के लिए इन सौ विभिन्न तरीकों को छह श्रेणियों में बदल दिया गया था : पानी का इस्तेमाल,

ज़मीन का इस्तेमाल, ग्रीनहॉउस गैसों का उत्सर्जन, जल प्रदूषण, ज़मीनी प्रदूषण, अपशिष्ट प्रदूषण। रिपोर्ट का निष्कर्ष यह था की यदि पर्यावरण सम्बन्धी खर्चों को भी संज्ञान में लिया जाए तो इनमें से किसी भी कंपनी का मुनाफा नहीं बनेगा। दुनिया के सबसे ज्यादा मुनाफ़ा कमाने वाले उद्योग जैसे तेल, मीट, खनन, तम्बाकू, और इलेक्ट्रॉनिक्स, हमारे भविष्य की कीमत पर मुनाफा कमा रहे हैं। शेयरधारकों के फायदे के लिए हम लम्बे समय तक टिकने वाले विकास और सम्पोषणीयता को दांव पर लगा रहे हैं। इतना ही नहीं रिपोर्ट यह भी स्पष्ट करती है की कभी-कभी पर्यावरण सम्बन्धी खर्च होने वाले फायदे से कहीं ज्यादा होते हैं। इसका मतलब यह हुआ की यदि ये कम्पनियाँ ईमानदारी से पर्यावरण को उनकी वजह से होने वाले नुकसान की भरपाई करें तो वे निश्चित रूप से घाटे में चली जाएँगी!

अगर केवल ज़मीन और पानी के इस्तेमाल की बात की जाए तो यह कहा जा सकता है की कोई भी कंपनी जितना पारिस्थितिकी तंत्र से ले रही है उसकी आधी कीमत भी नहीं चुका रही। ज़रा नेस्ले कंपनी सम्बन्धी इस तथ्य पे ध्यान दीजिये। यह कंपनी सूखाग्रस्त कैलिफ़ोर्निया प्रान्त से बिना किसी सीमा के गैलनों पानी निकालती है और वह भी पहले से सुनिश्चित ना की गई और बेहद कम कीमतों पर। फिर वह यही पानी वापस उन लोगों को बेचती है जो सूखे से जूझ रहे हैं और वह भी चार खरब डॉलर के सालाना मुनाफ़े पर! (2012 के आंकड़ों पर आधारित)

इस सब में सबसे ज्यादा डराने वाली बात यह है की इन कंपनियों की अप्रत्यक्ष लागत तो और भी ज्यादा है। रिपोर्ट यह बताती है की मीट और कोयला उद्योग इन कारस्तानियों में सबसे आगे हैं। दक्षिण अमरीका में बड़े स्तर पर गाय पालने से (कैटल रैंचिंग) जो राजस्व आता है उससे अद्धारह गुणा ज्यादा इसका पर्यावरण पर नुकसान होता है। पर फिर भी इन इलाकों में मवेशीखानों और पशुपालन का उद्योग बढ़ता ही जा रहा है। अगर ज़रा ध्यान दें तो इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होगा की अमेज़ॉन के वर्षा वनों के विनाश का बड़ा ज़िम्मेदार यह अंधाधुंध फल-फूल रहा उद्योग ही है।

रिपोर्ट में इसका भी विस्तृत ब्यौरा दिया गया है की यदि प्रमुख

उद्योग पर्यावरण सम्बन्धी लागत का भुगतान करते चले तो उन्हें कितना नुकसान होगा। इन सारी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है की हमारी वर्तमान नियामक व्यवस्था भ्रष्ट और असक्षम है। सवाल उठता है की ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? सबसे पहले तो हमें कंपनियों के इस ढोंग पर सवाल उठाना चाहिए कि वे पर्यावरण को लेकर जिम्मेदार हैं। हमें इस हकीकत को पहचानना चाहिए की वे दरअसल किस तरह से पर्यावरण और जलवायु को नुकसान पहुंचा रहे हैं। हमें इन उद्योगों के छद्म को पहचानना चाहिए और उनके मुखौटों के पीछे छुपे चेहरों को सामने लाने का प्रयास करना चाहिए। कल्पना कीजिये की कोई आपके घर में जबरदस्ती घुस जाए और पूरे घर को तहस नहस कर डाले। फिर इसके बाद वो घर के किसी छोटे से कोने को चुन कर वहाँ झाड़ू लगाने लगे और इस सफाई/स्वच्छता के नाटक के लिए आपसे पैसे भी मांगे और तो और वह ये सब करते हुए खुद को जिम्मेदार सेवक की उपाधि भी दे दे तो आप क्या कहेंगे? अब समझ लीजिए की इन कंपनियों का नाटक भी कुछ ऐसा ही है। इसलिए सबसे पहले तो हमें इस नाटक को बर्दाश्त करना बंद कर देना चाहिए। इसके बाद हमें वास्तविक समाधानों की पड़ताल करनी चाहिए और जहाँ कहीं भी ऐसे प्रयास हो रहे हैं उनका समर्थन करना चाहिए। हमें उन तथाकथित रूप से सस्ते उत्पादों, जोकि पर्यावरण की दृष्टि से बेहद महंगे साबित हो रहे हैं, का बहिष्कार करने की इच्छाशक्ति दिखानी चाहिए और उनके खिलाफ मुहिम चलानी चाहिए। इसके साथ-साथ हमें सरकारों पर भी दबाव बनाना चाहिए की वे इन सन्दर्भों में अपने नियमों को और कड़ा बनायें और भ्रष्ट कंपनियों के आगे ऐसे ना झुकें। हम कैसे अपेक्षा रख सकते हैं की कंपनियां अपने रुख में बदलाव लाएंगी जब तक खुद उपभोक्ता और सरकार उन पर दबाव नहीं बनाते?

अपनी बात को खत्म करते हुए मैं टूकॉस्ट रिपोर्ट के कुछ सुझावों की तरफ आपका ध्यान खींचना चाहूंगा। ये सुझाव क्रमवार रूप से कंपनियों, निवेशकों, और सरकारों के लिए दिए हैं।

कंपनियों के लिए सुझाव

1. अपने उद्योगों के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्राथमिक असर के सन्दर्भ में आंकड़े इकट्ठा करें। साथ ही पर्यावरण को मद्देनजर रखते हुए मूल्य-निर्धारण अध्ययन भी करवायें। इससे सीधे संचालन और आपूर्ति की कड़ी में जो संवेदनशील बिंदु हैं उन्हें समझने में और पर्यावरण को लेकर संवेदनशील कार्यप्रणाली तैयार करने में मदद मिलेगी।
2. इस बात पर विचार करिये और इस सन्दर्भ में कारगर प्रणाली विकसित करिये की कैसे पर्यावरण सम्बन्धी खर्चे स्वयं कंपनी ही उठा सकती है। साथ ही इसकी सम्भावना और प्राथमिकता पर भी विचार करिये की यदि ऐसा होता है तो उसका भविष्य में क्या वित्तीय प्रभाव होगा। उन तकनीकों को पहचानने और चिन्हित करने की कोशिश करिये जिनके ज़रिये यह सब सहज रूप संभव हो सकता है।

निवेशकों के लिए सुझाव

1. यह देखिये की कौन सी कंपनियां और सरकारें पर्यावरण को लेकर संवेदनशील हैं और अपने आप को बदलने के लिए तैयार हैं।
2. पर्यावरण के खर्चे को आंतरिक रूप से शामिल करने का क्या प्रभाव होगा इसका अंदाजा लगाइए और इसके अनुसार निवेश करिये।

सरकारों के लिए सुझाव

1. ऐसी नीतियां बनाइये जिनसे पर्यावरण सम्बन्धी लागत को कंपनियाँ दूसरों पर ना डाल सकें।
2. इसे समझने की कोशिश करिये इस लागत को शामिल करने से वैश्विक स्तर पर व्यापारिक प्रतियोगिता पर क्या असर पड़ेगा।

संक्षेप में ये की इन उद्योगों की तथाकथित 'बाह्यताओं' या 'बाह्य' खर्चों को इन उद्योगों को ही वहन करने पर मजबूर करना चाहिए।

देशद्रोही कौन नहीं है?

पेज 10 का शेष दौर रहा है जब इन स्वयंभू राष्ट्रवादियों के पुरखों की तमाम 'बहादुरी' सामने आई थी। मगर इसके पहले कि हम उसकी बात करें चंद लफ्ज 'देशद्रोह' की इस बहस को लेकर।

वैसे देशद्रोह को लेकर जो इतना हंगामा खड़ा किया जा रहा है, उसके कानूनी पक्ष बिल्कुल स्पष्ट हैं। जाने-माने कानूनविद और संविधान विशेषज्ञ फली एस. नरीमन इंडियन एक्सप्रेस में 17 फरवरी, 2016 को प्रकाशित अपने एक आलेख में लिखते हैं, 'भारत में देशद्रोह असंवैधानिक नहीं है, वह अपराध तभी होता है जब उच्चारें गए शब्द, भले वह लिखे या बोले गए

हों, उनके साथ हिंसा और अव्यवस्था जुड़ जाती है या वह हिंसा या अव्यवस्था को बढ़ावा देते हों। महज हुल्लड़बाजी, अव्यवस्था, अन्य किस्म की हिंसा- जो भले ही दंड संहिता के अन्य प्रावधानों के तहत सजा देने लायक हो, मगर वह दंड विधान की धारा 124 ए के तहत सजा लायक नहीं होती। इसी तरह, अपनी सरकार के प्रति नफरत यहां तक कि उसके प्रति जबरदस्त घृणा भी देशद्रोह नहीं समझी जाती। जब किसी व्यक्ति को 'भारत विरोधी' कहा जाता है तो वह भारत के नागरिकत्व के प्रति असम्मान है, मगर 'भारत विरोधी' होना आपराधिक कार्रवाई नहीं है और निश्चित ही वह 'देशद्रोह' नहीं है।'

हिंसा का रोज़ानापन

■ शिव विश्वनाथन

इसमें कोई शक नहीं की हम एक बेहद ही दकियानूस समाज बन गए हैं। हमारे बौद्धिक और विद्वतजन जहाँ पश्चिमी ताकतों द्वारा आदिवासियों और नेटिव समुदायों के दमन के बारे में बात करते हुए थकते नहीं हैं वहीं स्वयं अपने ही समाज में प्रचलित दमन के रूपों पर किसी तरह की चर्चा होना तो दूर हम उन्हें पहचानने से भी इंकार करते हैं।

भारत एक ऐसा देश है जिसे विकेंद्रीकरण का विचार बड़ा ही प्रिय रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में इसका असर दिखाई देता है। मैं इस लेख में इसी विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को उत्पीड़न और अत्याचार के सन्दर्भ में रेखांकित करना चाहूंगा। अब ज़रा हमारे पुलिस थानों को ही देखिये। हमें हॉब्स के सम्प्रभु शासक की ज़रूरत नहीं है हमने अत्याचार के ये विकेंद्रित रूप जो विकसित कर लिए हैं। थॉमस हॉब्स की सैद्धांतिकी में सम्प्रभु शासक और प्रजा के बीच एक तरह का अनुबंध होता है जिसके तहत अपनी सुरक्षा के बदले प्रजा शासक की संप्रभुता को स्वीकार करती है। इस सिद्धांत के अनुसार हॉब्स ने यह निष्कर्ष निकाला की यदि शासक विफल होगा तो जनता अपनी सुरक्षा के इंतज़ाम के लिए नया अनुबंध कर लेगी। पर हॉब्स के इस शासक की तुलना में थाने में बैठने वाला पुलिस वाला बहुत अलग है। वो अत्याचार की वह प्रतिमूर्ति है जो अपने आप में एक क्षेत्रीय गुंडा, शासक और न्यायाधीश तीनों होता है। हमारे समाज में शासकीयता और व्यवस्था की पहली और आखिरी सीढ़ी पुलिस स्टेशन ही होता है। हमें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए की कानून दरअसल अत्याचार का ही एक रूप है और इसका न्याय से कोई लेना देना नहीं है। जो बात मैं विशेष रूप से रेखांकित करना चाहता हूँ वह यह है की भला उस समाज में एक सम्प्रभु तानाशाह की क्या ज़रूरत जहाँ हर नुक्कड़ पर अत्याचार के ये आलय बने हुए हैं। जहाँ मध्यम वर्ग के लिए भारत एक प्रगति करता हुआ लोकतंत्र है जहाँ वह अपने भविष्य के सुनहरे सपने बुन सकता है वहीं दलितों, आदिवासियों, बंजारों और सामान्य औरतों के लिए यह तानाशाहियों का बहुकेंद्रीय और दमघोटू तंत्र बना हुआ है।

हिंसा का नया स्तर

कानून और अपराध की साँठ-गाँठ का बर्बर अत्याचार तो वे झेलते ही हैं पर जो चीज़ उन्हें और भी ज्यादा डराती है वह है हिंसा का प्रकार और हिंसा का रोज़ानापन। मैं नक्सली हिंसा, सांप्रदायिक दंगों, जातिगत शोषण की बात नहीं कर रहा जिनके बारे में हम सामुदायिक हिंसा के आवेग पूर्ण और कभी कभार

होने वाले विस्फोटों के रूप में पढ़ते या सुनते हैं। बल्कि मैं तो हिंसा के रोज़ानापन की बात कर रहा हूँ जहाँ दमन और अत्याचार दैनंदिन का हिस्सा बन चुके हैं और यह निर्ममता एक नया स्तर छू चुकी है।

लगभग हर बार हिंसा की शुरुआत वर्गीकरण या चिन्हित करने की प्रक्रिया से होती है। यहाँ पुलिस अपने हिसाब से यह तय करती है की कौन नागरिक है और इसलिए तमाम अधिकारों का हकदार है और कौन नहीं। उसके तसव्वुर में आदिवासियों और बंजारों की कोई जगह नहीं होती और ऐसा भी नहीं की ये केवल छत्तीसगढ़, बिहार के कुछ हिस्सों, कश्मीर या फिर मणिपुर के सुरक्षा बल विशेषाधिकार अधिनियम के तहत आने वाले क्षेत्र में ही होता हो। ये कहना गलत नहीं होगा की केवल मध्यम वर्ग ही अधिकारों की बात कर सकता है। ग्रीन ट्रिब्यूनल, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, और न्यायालय जैसी संस्थाओं का समाज के शोषित समुदायों के लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं है, उनकी इन संस्थाओं तक पहुँच होना तो खैर दूर की बात है।

मैं अपने समाज में व्याप्त एक ऐसे रोग की बात कर रहा हूँ जिसे समझने के लिए पश्चिमी सिद्धांतों के सीमित दायरों से बाहर जाना पड़ेगा। मैं जो कहना चाह रहा हूँ उसे स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ किस्से बयान करूँगा जिनसे शायद यह साफ़ हो सके की कैसे हमारे समाज में पुलिस स्टेशन अत्याचार की सतत क्रियाशील इकाइयों में बदल गए हैं।

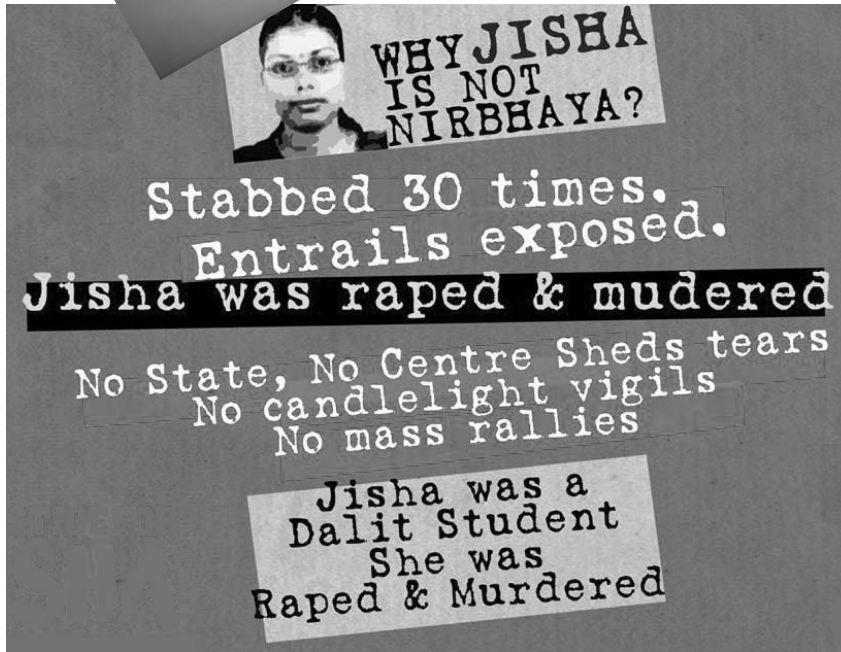
अपने ही लोगों का दमन

यह कहानी है छत्तीसगढ़ की कवासी हिडमे की। जनवरी 2008 में आदिवासी महिलाओं के एक दल, जो एक छोटे से ज़मीन के टुकड़े से अपनी आजीविका चलाता था, ने तय किया की वे मेला देखने जाएंगी। इन्हीं औरतों में से एक थी कवासी हिडमे। वो मेले में घूम रही थी चूड़ियाँ और रिबन खरीदने के लिए। कुछ देर चलने के बाद ये औरतें प्यास बुझाने के लिए हैंड पम्प ढूँढ़ने लगीं। हैंड पम्प मिलने के बाद कवासी हिडमे पानी पीने के लिए झुकी। तभी उस पर एक हाथ झपटा और वो ज़मीन पर थी। गिरते हुए उसने एक पुलिसवाले को देखा जो फिर उसे घसीटते हुए मेले के बाहर खड़ी वैन तक घसीटता हुआ ले गया। उसके हाथ-पाँव बंधे हुए थे। उसे गाड़ी में फेंका गया और पुलिस स्टेशन ले जाया गया। धीमे-धीमे उसे वह बना दिया गया जिसे लाग-लपेट वाली भाषा में 'पुलिस सहायिका' कहा जा

सकता है। पर दरअसल वह यौन अत्याचार की मूक पीड़िता बना दी गई थी। यौन शोषण करते हुए उसे एक पुलिस स्टेशन से दूसरे पुलिस स्टेशन तक ले जाया जाने लगा। पुलिस वालों को ये डर था की वो मर जायेगी और कोई बखेड़ा खड़ा हो जायेगा इसलिए उस पर झूठे आरोप लगाकर उसे छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा अधिनियम के तहत कैद कर लिया गया।

पुलिस ने उस पर तेइसवीं केंद्रीय रिजर्व सुरक्षा बल के जवानों की हत्या का आरोप लगाया और मजिस्ट्रेट ने उसे जगदलपुर जेल में रिमांड पर भेज दिया। जेल में उसपे भयानक जुल्म किये गए। इस हद तक उसका शारीरिक और यौन शोषण किया गया की उसका गर्भाशय अपनी जगह से हट गया! दर्द की इतेहा यह थी की उसने इस दर्द से निजात पाने के लिए एक साथी कैदी से ब्लेड मांगकर खुद पर ऑपरेशन

करने की कोशिश की। पर इससे खून का बहना और भी बढ़ गया। साथी कैदियों के चीख पुकार मचाने ने जेलर को सचेत कर दिया। जेलर ने उसे सरकारी अस्पताल ले जाने का बंदोबस्त किया ताकि उसका इलाज हो सके। ऑपरेशन के बाद उसे दोबारा जेल भेज दिया गया। एक आदिवासी शिक्षिका सोनी सोरी भी इस वक्त जेल में ही थीं। वे ही कवासी हिडमे की पालनहार बनकर उभरीं। सोनी सोरी भी इस तरह के अत्याचार से गुज़र चुकी थीं। जेल से छूटते ही उन्होंने मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को हिडमे की स्थिति के बारे में बताया। इसका



असर यह हुआ की इन कार्यकर्ताओं ने जल्द से जल्द हिडमे तक कानूनी मदद पहुँचाने की व्यवस्था की। अन्ततः 2015 मार्च के आखिर में न्यायालय ने उन्हें मुक्त करने का आदेश दे दिया क्योंकि उन पर लगाए हुए आरोप सिद्ध नहीं हो सके थे।

साहित्य के अध्येता गणेश देवी ने ऐसी ही और कहानियाँ दुनिया के सामने रखी हैं। इन आख्यानों से पता चलता है की गुजरात जैसे प्रान्त में पुलिस आदिवासियों को कैसे सताती है। उनका जीवन पूरी तरह से पुलिस के रहमो-करम पर निर्भर रहता है। इसी तरह से लेखिका और कार्यकर्ता महाश्वेता देवी ने बिहार और पश्चिम बंगाल में आदिवासियों के ऊपर हुए निर्मम अत्याचारों की हाड़ कंपा देने वाली कहानियों को हमारे सामने समय-समय पर रखा है।

इन सब बातों से यह साबित होता है की हम एक बेहद ही दकियानूस समाज बन गए हैं। हमारे बौद्धिक और विद्वतजन जहाँ पश्चिमी ताकतों द्वारा आदिवासियों और नेटिव समुदायों के दमन के बारे में बात करते हुए थकते नहीं हैं वहीं स्वयं अपने ही समाज में प्रचलित दमन के रूपों पर

किसी तरह की चर्चा होना तो दूर हम उन्हें पहचानने से भी इंकार करते हैं। अपने ही लोगों पर हिंसा करना हमारी नैतिक चेतना पर चोट नहीं करता। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है की इस तरह की हिंसा कानून के दायरे से भी बाहर होती है।

क्या हमारा समाज सामान्य है?

चलिए मैं एक और उदाहरण देता हूँ। 28 अप्रैल को केरल के पेरमबवूर में कानून की एक दलित छात्रा जीशा मृत पाई गई। ऑटोप्सी के अनुसार उस पर निर्मम अत्याचार और हिंसा हुई थी। दो टूक शब्दों में कहा में कहा जाये तो

उसके शरीर के साथ भयंकर खिलवाड़ किया गया था। साथ ही यह घटना पुलिस की ऐसे सन्दर्भों में दिखाई गई उपेक्षा और लापरवाही का आदर्श उदाहरण भी थी। ऐसे में इस भीषण घटना की नई दिल्ली में दिसंबर 2012 में हुए सामूहिक बलात्कार और नृशंस हत्याकांड से तुलना किया जाना स्वाभाविक ही था।

मैं ऐसे और भी कई किस्से बयान कर सकता हूँ। सच पूछिए तो इनका कोई अंत ही नहीं है। एक स्तर पर हम इसे कानून और न्याय प्रक्रिया की सीमा के तौर पर देख सकते हैं पर एक दूसरे स्तर पर यह सवाल उठता है की कैसे इन हृदय विदारक और रीढ़ ठंडी कर देने वाली घटनाओं पर भी हमारा व्यापक समाज इस तरह से अप्रभावित कैसे रहा जाता है। ऐसी घटनाओं के आम होते जाने के बाद भी हमारे समाज में उन्हें अपवाद की तरह देखा जाता है या सामान्य समझा जाता है। अब अगर अपने समाज में ऐसी चीजों को सामान्य माना जाता है तो सवाल उठता है की क्या हमारे समाज को सामान्य कहा जा सकता है?

यह एक ऐसा सवाल है जो महज अधिकारों और लोकतंत्र के प्रश्न से परे जाता है। इस सवाल का लेना देना सीधे-सीधे सामाजिकता की अवधारणा के मर्म से है। वह क्या है जो सामाजिक है? उसका न्यूनाधार क्या है? क्या हिंसा के रोज़ानेपन और पाश्विकता से एक नए तरह की सामाजिकता अस्तित्व में आ रही है। क्या कानून की वर्तमान रणनीतियाँ और प्रविधियाँ हमें ऐसी घटनाओं को समझने और उन पर विचार करने की सलाहियत देती हैं या नहीं?

जब मीडिया में ऐसी ख़बरें सुनने को मिलती हैं तो पेट में मानो हौल सी उठती है और दिमाग मानने से इंकार कर देता है। पर इसके बाद क्या? हम देखते हैं की ऐसी घटनाएं प्रकाश में तो आ जाती हैं पर उसके बाद कुछ नहीं होता। मानो जैसे सामाजिक स्मृति एक असंबली लाइन है जिस पर ऐसी घटनाएं जमा होती जाती हैं और समाज इनकी कोई पुख्ता समझ बना पाने में नाकामयाब रहता है। जिस तरह से हम इन घटनाओं को गटकते हैं या बाज़ार की भाषा में कहें तो उनका उपभोग करते हैं उसमें उपेक्षा और सीधे नकार का भाव निहित रहता है। इन घटनाओं का उत्पादन और उपभोग कुछ नए तरह की चिंताओं को सामने लाते हैं। यह विचार मन में आता है की क्या 'उपेक्षापूर्ण और बर्बर' हिंसा के नए रूप उभर कर सामने आ रहे हैं। ये कहना गलत नहीं होगा की इन घटनाओं को लेकर व्याप्त मौन और उपेक्षा हमें इन पर समुचित ढंग से विचार करने नहीं देते। एक प्रोफेसर के तौर पर मुझे बहुत से ऐसी कक्षाएं याद आती हैं जब ऐसी घटनाओं पर चर्चा करते हुए बच्चे रो पड़े थे। पर फिर भी व्यापक समाज कितना

अप्रभावित नज़र आता है।

पश्चिम से मिलने वाले सबक

मैं इन सवालों को इसलिए उठा रहा हूँ क्योंकि ऐसी घटनाएं कहीं गहरे संकट की प्रारंभिक चेतावनियाँ हैं। एक राष्ट्र के तौर पर भारत एक बेहद हिंसक देश है पर फिर भी यहाँ इन घटनाओं को समझने और विश्लेषित करने का कोई भी प्रयास होता। हमारे यहाँ रेने गिरार्ड (फ्रेंच इतिहासकार, साहित्यिक समालोचक, और समाज विज्ञान के दार्शनिक), हन्ना आरेंट (जर्मनी में पैदा हुई अमरीकी राजनीतिक चिंतक और दार्शनिक) जैसे समाज वैज्ञानिकों और फ्रैंकफुर्ट स्कूल जैसे दार्शनिक आंदोलन की सख्त ज़रूरत है। इन सबकी विशेषता यह थी की इन्होंने हिंसा की जड़ में जाते हुए इसे हमारे जीवन के रोज़मर्रापन से सम्बद्ध दिखाया था। ऐसे अध्ययन के लिए हिम्मत और प्रतिबद्धता की ज़रूरत होती है ताकि आप साक्ष्य और सिद्धांत को संतुलित रूप से बरतते हुए 'ईविल' या पाप और दुष्टता की समझ विकसित कर सकें और इस समझ को अभिव्यक्त करने के लिए सही भाषा भी तलाश सकें। हन्ना आरेंट ने यही किया था जब उन्होंने हिंसा के साधारणपन या अनायासिकता के बारे में बात की थी। अगर आप उनकी किताब, 'येरुशलम में आइकमैन : पाप के साधारणपन पर एक रपट' पढ़ें तो आपको इसके बारे में विस्तार से पता चलेगा। 'पाप का साधारणपन' उनके इस्तेमाल और सैद्धांतीकरण के बाद से बेहद चर्चित और आकलन के सन्दर्भ में बेहद सटीक पद बन गया है। यही पद उनकी किताब का उपशीर्षक और आखिरी वाक्य भी है। जब आरेंट ने यह तर्क रखा की ओटो अडोल्फ आइकमैन, जिसे 1962 में यहूदी नरसंहार में शामिल होने की वजह से मृत्युदंड दे दिया गया था, दरअसल एक सामान्य या साधारण इंसान था और उसके इसी मामूलीपन ने नरसंहार की विभीषिका रची थी, तो लोग दंग रह गए थे। ऐसे ही पोलिश समाजशास्त्री जिगमन्ट बॉमन ने नाज़ी हिंसा को वैज्ञानिक प्रगति से सम्बद्ध दिखाकर हमें चौंका दिया था। अपनी किताब, 'आधुनिकता और जनसंहार' में उन्होंने विचारोत्तेजक ढंग से यह तर्क रखा था की नाज़ी नरसंहार आधुनिक नैतिकता का विलोम होने के बजाये तार्किकता के आधुनिक सिद्धांतों के अनुरूप ही है। हमें भी ऐसे ही दृष्टिकोणों की ज़रूरत है जो कथा कहने की आख्यानात्मक शक्ति को रचनात्मक रूप से इस्तेमाल कर सकें और हिम्मती एवं नैतिक रूप से दृढ़ समाज विज्ञान विकसित कर सकें ताकि हमारे समाज में हिंसा को और कानून की सीमाओं को रेखांकित किया और समझा जा सके। ऐसे नैतिक और दार्शनिक प्रयासों के बिना कोई भी लोकतंत्र चल नहीं सकता।

जल-समृद्धि के देश में क्यों है ऐसी प्यास

■ अनुपम मिश्र

पिछले कई सालों से यह बात जुमले की तरह अक्सर सुनने को मिल जाती है कि 'तीसरा विश्वयुद्ध पानी के लिए होगा।' यह तो खैर कब होगा, क्या होगा, पर मैं तो यह याद दिलाना चाहता हूँ कि जो हो रहा है, वह ही कहां कम है! आज भी दो प्रदेशों के बीच युद्ध हो रहा है, दो देशों के बीच भी हो रहा है। बांग्लादेश और भारत पानी को लेकर लड़े। पंजाब से निकलने वाली नदियां, जो पाकिस्तान में जाती हैं, उनको लेकर भारत-पाकिस्तान में विवाद रहा। अपने देश को लें तो तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच कावेरी को लेकर जंग छिड़ी। जंग? हां, इसका स्वरूप जरूर बदल रहा है। राज्यों ने भी अपनी नदियों पर बांध बनवाए हैं और सार्वजनिक होते हुए भी पानी का निजीकरण हुआ है। और अब, समाधान के तौर पर हो रहा निजीकरण अपने-आप में ही एक संकट बन रहा है।

बढ़ते जल संकट के साथ जल-संरक्षण और जल-प्रबंधन की चर्चा भी दुनियाभर में जोरों से की जाती रही है, लेकिन लोग, जो अपनी धरोहर को मरुधरा में भी जल-प्रबंधन करते आए हैं, उन्हें चर्चा में कहीं शामिल नहीं किया जाता राजस्थान में नहर आई, यह नेतृत्व का निर्णय है, अधिकारियों का निर्णय है। लोगों की इच्छा, हो सकता है जगाई गई हो, लेकिन उनको नहीं मालूम कि इस प्रदेश में पानी आएगा तो क्या गुल खिलाएगा? वे अपने आंगन में ही पराए हो जाते हैं, जबकि इस समाज का सुंदर जल-दर्शन देख इस धरा को सजदा करने को जी चाहता है। इनके संचित ज्ञान का इस्तेमाल कर उस जगह का आगे का जल-प्रबंधन किया जाए तो शायद दुनिया ही बदली नजर आएगी।

जब मैं 'संचित ज्ञान' की बात कर रहा हूँ, तो इसे एक उदाहरण से समझिए। इंदिरा गांधी नहर के पहले चरण में जब पानी आया, तो लूणकरणसर के आसपास दलदल बन गया। बाद में इंजीनियरों को पता लगा कि नीचे जिप्सम की पट्टी है, इसलिए पानी टकराकर रुक गया, वापस ऊपर आ गया। सवाल यह उठता है कि पहले यह सर्वे क्यों नहीं कराया गया? हमारे पुरखे मिट्टी के रंग और गंध से

उसका स्वभाव जान लेते थे, सतह का दबाव भी वे खूब पहचानते थे। उन्होंने गांव का नाम कुछ सोच समझकर ही रखा होगा। अगर पहले गांव वालों से ही पूछ लिया जाता तो पता लगता कि लूणकरणसर में नमक की बहुतायत है। लेकिन, 'अब पछताए होत क्या...।'

यहीं पर सरकार की जल-नीति और समाज के जल-दर्शन का फर्क भी समझ लेना चाहिए। जलनीति सरकार पांच साल के लिए अपने कार्यकाल में बनाती है और जल-दर्शन वह है, जो हजारों सालों से चला आ रहा है। जिस दिन इस जल-दर्शन पर ध्यान जाएगा, हम कुछ उम्मीद कर सकते हैं। सैकड़ों, हजारों तालाब अचानक शून्य से प्रकट नहीं हुए। उनके पीछे एक इकाई थी बनवाने वालों की, तो दहाई थी बनाने वालों की। यह इकाई, दहाई मिलकर सैकड़ा, हजार बनती थी, पर आज के पढ़े लिखे लोगों ने उसे शून्य में तब्दील कर दिया।

जहां सबसे कम पानी गिरता है, देश का सबसे सूखा हिस्सा जैसलमेर का रामगढ़ खंड है। पुरखों का ज्ञान देखिए कि जहां तीन-सौ फुट नीचे तक खारा पानी मिलता है, वहां करीब चालीस-चालीस किलोमीटर की दूरी पर तीन मीठे पानी के कुएं ढूँढ़ निकाले। किसी संस्था या सरकार ने यहां पैसा नहीं लगाया, कोई पंचवर्षीय योजना नहीं बनी, पर उन ग्रामीणों की तपस्या देख नतमस्तक हो जाने को दिल करता है। मीलों दूर चलकर भेड़-बकरियां, राहगीर यहां मीठा पानी पीने पहुंचते हैं। वहां के जल की कलकल, वह मीठा नाद, जिससे असीम तृप्ति का एहसास होता है, आज भी मेरे जेहन में गूंजता रहता है। सवाल उठता है कि वे आसपास क्यों नहीं रहते? शायद प्रकृति ने इसमें भी कोई रहस्य छिपाया है कि वहां चारा नहीं। 'सस्टेनेबल डवलपमेंट' शायद इसी का नाम है। साथ ही बिना किसी लिखित कानून के ये लोग इस बात का खयाल रखते हैं कि पानी एक मात्रा से ज्यादा नहीं निकाला जाए।

पानी की समस्या हल करने के लिए आज बड़े पैमाने पर नदियों को जोड़ने की बात की जा रही है। नदियों को

जोड़ने के मसले को अगर हम उदारीकरण के अंतर्गत या बाहर करके भी देखें तो यह एक स्वतंत्र रूप से बनी योजना है। इसकी झलक हमें ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीयकरण के दौर में मिलती है। वह युग के.एल.राव और नेहरू जी का था। तब नदी जोड़ने का बड़ा सपना देखना बड़ा ही अच्छा माना जाता था। आज भी इसे गलत नहीं माना जाता है। राष्ट्रीयकरण से लेकर उदारीकरण तक अगर जोड़ने की बात है तो वह 'नदी जोड़ो योजना' है। वह इन दोनों छोरों को जोड़ती है। और, हमें बार-बार गलत साबित करती है कि केवल बाजार का लालच ही नहीं, बल्कि अच्छे राष्ट्रीयकरण का दौर भी नदी जोड़ने से हमें अलग नहीं कर पा रहा था। प्रकृति को जब जरूरत होती है वह अपनी नदियों को जोड़ लेती है। वह पांच-दस साल नहीं, बल्कि हजारों लाखों वर्षों की योजना बनाकर अपने को जोड़ती है। वह गंगा को कहीं बहाती है, यमुना को कहीं बहाती है, तब जाकर वह इलाहाबाद में अपने को मिलती है। यह जोड़ समाज के लिए संगम या तीर्थ कहलाता है। वह पर्यावरण की एक बड़ी घटना होती है। दोनों नदियों में वनस्पति अलग, जलचर का अलग-अलग स्वभाव होता है। पहले नदियां निचले स्तर में, धाराओं में साम्य लाती हैं। ऐसी जगहों को वहां के समाज ने बहुत उदार भाव से देखा होगा। प्रकृति की इन घटनाओं को आदर भाव से संगम घोषित किया गया होगा। वे प्रकृति की इन घटनाओं का आदर करते हैं। अभी जो हम नदी-जोड़ो की बात कर रहे हैं उसमें हम नदियों की संख्या दे देंगे। यह तीर्थ नहीं बनने वाला है। यह तकनीकी कार्य होगा। इसका नतीजा भी तकनीकी ही होगा। हमें यह सब कुछ नदियों पर ही छोड़ देना चाहिए।

नदियां, समुद्र में प्रवेश करने से पूर्व अपने बहुत सारे टुकड़े करती हैं। अन्यथा, उन रास्तों से प्रवेश कर समुद्र प्रलय मचाता। नदियां बहुत संतुलन और धैर्य के साथ समुद्र में विलीन होती हैं। गंगा, बांग्लादेश और पश्चिम की नदियां अरब सागर में कई टुकड़ों में बंटकर मिलती हैं। प्रकृति पर श्रद्धा रखना एक सोच है। यह सोच विकसित करनी होगी कि जितना प्रकृति ने दिया है, उसके हिसाब से अपना जीवन चलाएं। प्रकृति ने अलग-अलग क्षेत्रों में कई नदियां बनाई हैं। अन्यथा, वह एक नदी बनाती। कश्मीर से चलाकर कन्याकुमारी तक उसे पहुंचाती। ऐसा संभव नहीं है। भूगोल ऐसी अनुमति नहीं देता है। यह काम पर्यावरण से ज्यादा

भूगोल को नष्ट करेगा। पर्यावरण को संतुलित किया जा सकता है, परंतु भूगोल को नहीं। पृथ्वी की जो ढाल है, चढ़ाव है, जिसके कारण ज्यादातर नदियां पूरब की तरफ बहती हैं, उन्हें पश्चिम की तरफ अगर मोड़ेंगे तो आने वाली पीढ़ी हमें माफ नहीं करेगी। पानी का मान पानी के हिसाब से रखना पड़ेगा, वरना पानी कब आदमी का पानी उतार लेगा, हम-आप समझ भी नहीं पाएंगे।

पानी के बारे में हमें अपनी सोच की समीक्षा करनी चाहिए। पानी के बारे में प्रति व्यक्ति घनमीटर और लीटर की जो पद्धति है, वह योजनाकारों की शब्दावली है। इस पद्धति से उन्होंने देश को ज्यादा पानी उपलब्ध करा दिया हो, ऐसा नहीं है। अन्य मामलों में भारत को गरीब देशों में गिना जाता होगा, लेकिन पानी के मामले में हमारा देश अमीर है। हमें प्रत्येक समाज की पानी की जरूरत को जान लेना जरूरी है। चैरापूंजी, गोवा, कोंकण में बहुत पानी गिरता है। अतः वहां खेती, घर और जानवरों के लिए पानी का उपयोग अधिक हो सकता है, परंतु जैसलमेर, बाड़मेर आदि इलाकों में, जहां पानी बहुत कम गिरता है, वहां उस हिसाब से पानी का उपयोग तय किया जाना चाहिए। कहीं पानी बहुत कम है, परंतु जीवन को चलाने के काम में उसकी सुगंध न जाए, लोकमानस भी इतना ध्यान रखकर ही पानी का उपयोग तय करता है। इसे तराजू पर रखकर तय नहीं किया जा सकता। इसे जन-विवेक पर छोड़ना होगा। देखा जाए तो हमारे देश में इस कोने से उस कोने तक पानी ठीक मिलता है। यह जरूर है कि हाल के दिनों में पानी की बर्बादी और छीना-झपटी भी हुई है। राजनीतिक रूप से बलशाली इलाका कमजोर इलाकों से पानी छीन लेता है। असल में इस कारण से ही यह समस्या हमारे सामने आई है। हमें घनमीटर और लीटर के चक्कर को छोड़कर क्षेत्र की क्या जरूरत है, इसके आधार पर हल निकालना होगा। जब हमें आजादी नहीं मिली थी तब हमारे गाँवों में जल-प्रबंधन बेहतर था। धीरे-धीरे गाँवों के जल-स्रोत नष्ट हुए। समाज ने हजारों वर्षों के परिश्रम के बाद जिन परंपराओं का विकास किया, उसकी हमने उपेक्षा की है। सौ-दो सौ किलोमीटर पाइप लाइन बिछाकर मीठा जल लाने का झूठा वायदा किया है। यह दो-चार दिन से ज्यादा का खेल नहीं है। हैंडपंप और ट्यूबवेल खारा पानी उलीचते हैं। भेड़-बकरियों तक ने कई इलाकों में इस पानी को पीने से नकार दिया है।

वास्तव में जल संकट के मामले में नवीन और प्राचीन की गुंजाइश नहीं होती है। प्रकृति पानी गिराने का तरीका अगर नहीं बदलती है, तो संग्रह के तरीके कैसे बदल सकते हैं? पानी रोकने का तरीका फैशन नहीं है, जो हर दो साल में बदला जा सके। कुंड, तालाब, नदियों, पाइन आदि में जल-संग्रह होकर भू-जल को ऊपर उठाता है। फिर सालभर हम पुराने अलग-अलग तरीकों से पानी को खींचकर उपयोग में लाते हैं।

पानी की इज्जत करना उसे किफायत से खर्च करना सीखना होगा। कहा जाता है कि यह बाजार की दुनिया है। बाजार ही हमें रोज-रोज पानी की सही कीमत बताता है। बाहर निकलकर एक बोतल पानी खरीदिए, आपको वह लगभग दूध के दामों पर मिलेगा। लेकिन यही पानी साफ-सुथरे और विश्वसनीय ढंग से घर में आता है, तो हम इसे दैनिक कार्यों से लेकर लॉन सींचने और गाड़ी धोने तक में बिना सोचे बहा डालते हैं। इसलिए बाजार में बिकने वाली पानी की बोतल को हमेशा सामने रखें। पानी के इस्तेमाल में किफायत बरतना आ जाएगा।

इस संदर्भ में फतेहपुर सीकरी को याद कर सकते हैं। अकबर को महान कहा जाता है, लेकिन यह प्रसंग उसके साम्राज्य का नहीं, पानी से जुड़ा है। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में नई राजधानी बसाई, बहुत काम करवाया, परंतु सिर्फ 16 साल बाद उसे यह जगह छोड़ देनी पड़ी। वजह थी पानी की कमी। इसीलिए आज के पर्यटक को भी वहां के सारे महल नए-से लगते हैं। नए-से ही छोड़ दिए गए थे।

आज हमारी सारी राजधानियां, सारे शहर स्वभाव से फतेहपुर सीकरी बन चले हैं। शहरों में पानी सौ दो सौ किलोमीटर दूर से आता है। जिनका नहीं आता, वे भी ऐसे जुगाड़ में हैं।

सभी शहरों और राजधानियों में 50-60 साल पहले तक बड़े तालाब हुआ करते थे, जो वर्षाजल का संचय करते थे। ये भू-जल स्रोतों को समृद्ध करते थे। यही भू-जल कुएं के जरिये इस्तेमाल में लाया जाता। लेकिन, तकनीक की बदौलत परिदृश्य बदल गया। हम जमीन में छेद कर ट्यूबवेल, बोरिंग लगाकर ईंधन और बिजली की मदद से पानी खींचने लगे। फिर धीरे-धीरे जमीन की कीमतें आसमान छूने लगीं, तो एक नया शब्द आया-भूमाफिया। इसने देखते-ही-देखते 30-40 वर्षों में शहरों ही नहीं, आसपास के

गांवों के तालाबों को भी लपेटे में ले लिया। भू-जल समृद्ध करने वाले तालाब गायब हो गए, लेकिन नागरिकों को कोई खास परेशानी नहीं हुई, क्योंकि सरकारों ने कहा कि-‘तुम हमें वोट दो, हम तुम्हें पानी देंगे।’

यहां तक तो ठीक है, परंतु न भूलने वाली बात यह है कि पानी भले ही किसी और जगह से आ रहा हो, पर हमारे अंधाधुंध इस्तेमाल से एक-न-एक दिन वहां का जलस्रोत भी सूख ही जाएगा। कार्टूनिस्ट देवेन्द्र ने बहुत पहले एक कार्टून बनाया था-नल निचोड़ने के दिन आ गए। इसमें एक व्यक्ति आंगन में लगे नल को निचोड़ रहा है, जिससे दो बूंदपानी टपकता है। कहने का अर्थ यह है कि हम लगातार बेफिक्र नहीं रह सकते।...सरकारें पानी देंगी, कभी कम भी देंगी। हम घड़े फोड़कर विरोध का नाटक भी करेंगे। नए घड़े ही फोड़े जाएंगे, क्योंकि घरों में पुराने घड़े हैं ही नहीं।

पिछले बरसों में तालाबों की विदाई के साथ बाढ़ का आगमन भी हुआ है। एक-दो घंटे भी पानी बरस जाए, तो सड़कें लबाब हो जाती हैं, घरों में पानी घुस जाता है। कारण यह कि पहले यह पानी जिन तालाबों में इकट्ठा होता था, अब वहां कॉलोनी और मॉल बन गए हैं। उस पानी की स्मृति उसे वहीं ले आती है और हम अपने को बाढ़ से घिरा पाते हैं। दस साल के ही आंकड़े देख लीजिए। मुंबई, में महज एक घंटे की बारिश में बाढ़ का खतरा घिर आता है।...हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इंद्र का एक पर्यायवाची पुरंदर भी है। पुर, यानी नगर शहर। सो, पुरंदर का अर्थ हुआ, नगरों को तोड़ने वाला। इंद्र की बाढ़ का एक प्रसंग श्रीकृष्ण से जुड़ा है, जब उन्होंने छिनी उंगली पर गोवर्धन पर्वत उठाकर उस इलाके को बाढ़ से बचा लिया था। लेकिन द्वारका को भी याद करें, जो स्वयं कृष्ण की बनाई राजधानी थी, वह डूब गई थी।

काश! हम इस गमी में इंद्र, कृष्ण, तालाब, हमारे नल-किसी को न भूलें। इस बार बरसात के बारे में जो संकेत हैं, उस पर खुश हो, पर इसे गंभीरता से लें। पुराने तालाब दुरुस्त करें। नए तालाब बनाना संभव न हो तो अपने घर-आंगन-छत में बारिश का पानी जमा करके (वॉटर हार्वेस्टिंग के जरिये) भूजल संवर्द्धन की कोशिश करें। जितना हो सके आसमान से गिरने वाले निर्मल जल की धरती की गोद में आने वाले दिनों के लिए भर लें।

(लेखक प्रसिद्ध पर्यावरणविद हैं)

समान स्कूल व्यवस्था और इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसले के मद्देनजर

अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच द्वारा आयोजित

राष्ट्रीय सम्मेलन में पढ़े गए दो पत्र

①

हमारी भाषाओं को कौन खत्म कर रहा है?

सुप्रीम कोर्ट द्वारा प्राथमिक शिक्षा में अंग्रेज़ी को वरिष्ठता का दर्जा देना मातृभाषाओं के लिए मौत की घंटी है।

संविधान में स्वीकृत 22 भारतीय जुबानों और कई छोटी भाषाएँ अधमरी होती चले, हाल में सुप्रीम कोर्ट के फैसले से उनकी टांगें काट दी गई हों तो हम किसके पास जाएँ, किससे पूछें? जब शिक्षा के माध्यम पर बहस जारी थी, अखबारों में आया कि किसी जज ने कहा है, 'जापान के सुप्रीम कोर्ट से कोई जज दिल्ली आए थे, उन्होंने अंग्रेज़ी में बात की। अगर वो अंग्रेज़ी में न बोलते तो किसी को उनकी बात समझ में न आनी थी। भाषा के मसले पर रुढ़िवादी खयालों वाले चीन में भी अंग्रेज़ी की संभावनाओं पर खुलापन दिखने लगा है।' इसे पढ़कर उस कन्नड-भाषी की याद आती है जिसने सालों पहले इंग्लैंड के सफर से वापस आकर कहा, 'कमाल है उस मुल्क में छोटे बच्चे तक अंग्रेज़ी में बात करते हैं।'

अगर उस जज ने जरा सोचा होता. उसे जापान की भाषा नीति के बारे में जानकारी होती. तो उसे पता चलता कि जापान के तकरीबन सभी स्कूलों, कालेजों और ऊँची तालीम के संस्थानों में जापानी भाषा में तालीम दी जाती है। उसे यह पता चलता कि चीन में मादरी जुबान मैडरिन भाषा में और अल्पसंख्यक प्रजातियों को मंगोलियन, तिब्बती और कोरियाई जुबानों में तालीम दी जाती है। उस मुल्क में अंग्रेज़ी और इस्पानी जुबानों पर काफी खर्च किया जा रहा है, पर मकसद इन जुबानों को सीखने भर का है, ताकि वे अपना साम्राज्य फैला सकें।

दूसरे आज़ाद मुल्कों और स्कैंडिनेवियाई और जी-8 मुल्कों में उच्च-शिक्षा में भी स्वाभाविक तौर पर मादरी जुबान का इस्तेमाल होता है। पूरे एशिया में यही कहानी है। कुछ जगहों पर सामान्य बदलाव दिखते हैं, पर ज्यादा नहीं। मलयेशिया में औपनिवेशिक भाषा को हटाकर मातृभाषा को लाया गया है। गणित और विज्ञान तक पढ़ाने के लिए केंद्रीय सरकारी स्कूलों में बआषा (भाषा) मलयेशिया का इस्तेमाल होता है, क्षेत्रीय स्कूलों में चीनी और तमिल जुबानों का इस्तेमाल होता है। भारत में सिर्फ तमिलभाषी ही अपना सीना पीटते दिखते हैं। अगर उनकी

जुबान शिक्षा का माध्यम बन विकास कर सकती हैं, तो हमारी भी कर सकती हैं। भारत की मातृभाषाएँ कम से कम प्राथमिक शिक्षा में जगह पाने के लिए चीख रही हैं।

सारांश यह कि किसी भी आज़ाद मुल्क ने मादरी जुबानों का कल्ल कर किसी और भाषा को नहीं अपनाया है। कुछ गरीब मुल्क अंदरूनी समस्याओं में पिसते हुए भी अपनी सार्वभौमिकता के प्रतीक के रूप में मातृभाषा की शिक्षा का माध्यम बना कर रखे हुए हैं। दुनिया भर में मातृभाषा की शिक्षा का माध्यम रखने और साथ में दूसरी जुबानों को भाषाओं की तरह सीख कर विकास करने की रवायत है। तो भारत की समस्या क्या है? हमें शारीरिक गुलामी से छूट भले मिली हो, पर शायद हम मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं हो पाए हैं?

आज दुनिया 'विकास' और स्पर्धा से चल रही है। इस नज़रिए से भी हमारे पड़ोस के विविधताओं और जटिलताओं से भरे मुल्क, चीन, जापान, कोरिया और थाईलैंड, आगे बढ़ रहे हैं। मुमकिन है कि मादरी जुबान में तालीम और तरक्की की रफ्तार में कोई रिश्ता हो। जब मातृभाषा में समान शिक्षा दी जाती है, जनसंख्या के हर हिस्से से प्रतिभा और मेधा निकल कर सामने आती है और मुल्क आगे बढ़ता है। हर घर में कौशल और लाभ की राहें खुलती हैं। हमारे कानून बनाने वालों, अफसरों और न्यायिकों को यह जानकारी क्यों नहीं है? सारी दुनिया में सैर करने वाले आई टी बी टी वालों को यह बात, मुनाफे के नज़रिए से भी, जाहिर क्यों नहीं होती?

यह कोई ऐसी बात नहीं है कि इसे समझा न जा सके। भारत ने शूद्रों को तालीम न देने की प्रथा को खत्म कर दिया है, और आज सबको शिक्षा देने की बात हो रही है। पर तालीम के इंतजाम में जाति और वर्ग-भेद की बीमारियों को घुसा लिया गया है और चतुर्वर्ण के वर्गीकरण से निकले भेदभाव और बहिष्कार को जस का तस बनाए रखा गया है।

बीमारी फैलती चली है, नहीं तो ऐसी तालीम क्यों जहाँ समुदायों को रस्मी भोजन-सभाओं की तरह अलग किया जा रहा है? 1963-64 में शिक्षा पर बने कोठारी आयोग ने चेतावनी दी थी कि अगर समान शिक्षा नहीं हो तो समाज में भेदभाव बढ़ता रहेगा। फिर भी भारत में भेदभाव पर आधारित शिक्षा-व्यवस्था जारी

है। इससे क्या पता चलता है? क्या बिना भेदभाव और बहिष्कार के भारत को नींद नहीं आती? हम एक ओर तो गुलामी की बीमारी से ग्रस्त हैं, दूसरी ओर हमें वर्ग और जाति की बीमारी है। कानून बनाने वालों, अफसरों और न्यायिकों तक भी यह रोग फैल गया होगा। इसलिए रस्मी भोजन-सभाओं की तरह समुदायों में भेदभाव करने वाली शिक्षा-व्यवस्था यहाँ चल रही है (जिसे हमारी जुबान में पंक्ति भेद कहा जाता है)। इस बात को न समझ कर कि भारत के लिए सबसे बेहतर तालीम वह है जिसमें बिल्कुल ताजा दिमाग रहते सभी जातियों, समुदायों, मजहबों के बच्चे साथ मिल कर पढ़ें, हम पिछड़ते जा रहे हैं।

सही है कि सरकारी स्कूलों का स्तर दिन-ब-दिन गिरता जा रहा है। हम ग़लत दिशा में इसकी वजह ढूँढ रहे हैं। अगर, मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर समान पड़ोसी स्कूली इंतज़ाम किए जाएँ तो गिरते स्तर अपने आप बेहतर में बदल जाएँगे। बात यह है - संपन्न इलाकों में सुविधाओं का स्तर ऊँचा है। गरीब इलाकों की तरह पानी या बिजली की सप्लाई नहीं रुकती। स्कूलों का स्तर ऊँचा करने के लिए अतिरिक्त ट्रेनिंग या सुविधाओं की जरूरत नहीं है। मादरी जुबान में समान तालीम वाले पड़ोसी स्कूलों के न होने और गैरबराबरी की तालीम होने से गाँव के बच्चे, सड़कों पर पलते बच्चे और उत्पीड़ित समुदायों के बच्चे स्कूल छोड़ रहे हैं। हमारी अधकचरी, भेदभाव वाली शिक्षा व्यवस्था में समावेशी बहिष्कार चलता है। विपन्न बच्चों को ऐसे बाहर फेंक दिया जाता है कि वे फिर कभी उठकर खड़े नहीं हो पाते। इसमें अंग्रेजी की अपनी भूमिका है और इसकी वजह से बड़ी तादाद में बच्चे तालीम से अलग हो रहे हैं।

न्याय-व्यवस्था साथ नहीं दे रही है और हमारी आकांक्षाएँ और उम्मीदें मर रही हैं। शिक्षा के माध्यम पर अपने फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने आज़ादी से बोलने के हक और शिक्षा के माध्यम को चुनने के हक का घालमेल कर दिया है और इसे उधेड़ने की हद तक खींच दिया है। अगर आज़ादी को इस हद तक खींचा जाए तो क्या इसे दुराचार कहना ग़लत होगा?

बच्चा परिवेश से अपने आप मादरी जुबान सीखता है। हमारी बदकिस्मती है कि हम आज भी इसकी परिभाषा में उलझे हुए हैं। ऐसे हालात में कुछ भी हो सकता है और बहुत कुछ हो चला है।

सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया है कि बच्चे और पालकों को शिक्षा के माध्यम को चुनने का हक है। पर यह चयन कब होता है। जब 2-3 विकल्प हो। जब सिर्फ एक ही विकल्प हो, चुनने का सवाल ही कहाँ उठता है? तालीम पर बुनियादी समझ यह है कि हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं। कम से कम इस पहलू पर अदालतों को ध्यान देना चाहिए था। जब बच्चे ने परिवेश से मिली अपनी परिचित भाषा में अपने आप पढ़ना और लिखना सीख लिया हो, तभी किसी दूसरी भाषा को

औपचारिक रूप से सीखने का सवाल उठता है। प्राथमिक शिक्षा के बाद, जहाँ भी जरूरी लगे, शिक्षा की भाषा पर फिर से विचार किया जा सकता है। तालीम पर यही समझदारी होगी। हमारी अदालतों ने इसे तबाह कर दिया है। जब भाषाई आधार पर राज्य बनाए गए, संविधान निर्माताओं ने इस खतरे को भांपा कि राज्यों में बहुसंख्यकों की जुबानें दबंगई पर उतर आ सकती हैं और साथ ही दूसरी मातृभाषाओं का दम घोट सकती हैं (जैसे, कर्नाटक में तुलु, उर्दू कोंकणी, मराठी, तमिल, तेलुगु और कोडवा)। इसलिए उन्होंने अल्पसंख्यकों की जुबानों को बचाने के लिए तलवारों जैसे कानून रचे। पर इन्हीं कानूनों का इस्तेमाल आज अल्पसंख्यकों की जुबानों समेत क्षेत्रीय भाषाओं का कल्ल करने के लिए हो रहा है। आज सचमुच ऐसा लगता है बचने की कोई उम्मीद बाकी नहीं बची है। गाँधी जी ने कहा था कि कोई किसी और को अपने से ज्यादा धोखा नहीं दे सकता है। जब भी मुझे यह बात याद आती है, मैं हताशा से भर जाता हूँ। प्राथमिक शिक्षा पर सुप्रीम कोर्ट का फैसला खुद को धोखा देने की ठोस मिसाल है, है न?

पर हमें इन हालात से जूझना पड़ेगा। यह जुबान का मसला नहीं है। यह भारत की आज़ादी, सार्वभौमिकता, अखंडता और भविष्य से जुड़ी बात है। आज वक्त आ गया है कि भारत के पहले नागरिक को हमारी जुबानों की नियति पर सोचना होगा। करोड़ों की तादाद में मुल्क की आवाम यह उम्मीद कर रही है कि वो अपने तजुर्बे, सदाशयता और अक्लमंदी का इस्तेमाल कर सरकारों को सही सलाह देंगे। यह हताशा से भरा वक्त है, क्योंकि कानून बनाने वालों, अफसरों और न्यायिकों ने मुल्क के भविष्य के नुकसान की राह पकड़ ली है।

अगर हम संविधान को मानते हैं, तो केंद्र को राज्य सरकारों के साथ मशविरा कर ऐसी भाषा नीति बनानी चाहिए जिसमें हर जाति, वर्ग और समुदाय को लाभ पहुँचे। भारत में ऐसी शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें सभी को बराबर देखा जाए और सबको एक जैसे मौके मिले। भेदभाव पर आधारित शिक्षा व्यवस्था से संविधान में निहित बराबरी के सपने को हम तबाह न करें। बिना आदर्श और ममता के तालीम का कोई मतलब नहीं होता। अब हमारे राष्ट्रपति पर यह बात टिकी है कि वे साहस के साथ पेश आएँ और भावी पीढ़ियों के सामने गहराते अँधेरे को दूर करें। भारत के युवाओं को बेहतर, उम्मीदों भरा भविष्य का हक है।

देवनूर महादेव

प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार

②

1 सबसे पहले आज राष्ट्रीय महासभा में न आ सकने पर मैं क्षमा याचना करता हूँ। यह एक अहम मौका है कि यहाँ मुल्क में तालीम के भविष्य पर बातचीत होगी जिसे कई

- दशकों से बुरी तरह नजरअंदाज किया गया है।
2. अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, यूरोप आदि विकसित क्षेत्रों की तुलना में, जहाँ पूरी तरह सरकारी खर्च से चलने वाली स्कूल-व्यवस्था में सभी बच्चों को समान या तकरीबन समान तालीम दिए जाने से बुनियादी में ही शिक्षा का अधिकार निहित था, हमारे मुल्क में शिक्षा के अधिकार की यात्रा काफी हद तक अलग रही है।
 3. मसलन 19वीं सदी के बीच में जापान में जारी किया गया तालीम का बुनियादी सिद्धांत सार्वजनिक क्षेत्र की इस प्रतिबद्धता का बयान था कि यह सुनिश्चित हो कि 'किसी भी समुदाय में कोई निरक्षर परिवार न हो, किसी भी परिवार में कोई निरक्षर व्यक्ति न हो।' जापान में सुधार के नेताओं में से एक, कीदो ताकायोशी, ने मूल बात को यून समझाया है 'आज के अमेरिकन या यूरोपी लोगों से हमारे लोग कोई अलग नहीं है, बात सिर्फ तालीम की है।' पश्चिम के मुल्कों के बराबर हो सकने की जापान की शानदार कोशिश की यह शुरुआत थी। 1910 तक जापान में तकरीबन पूरी साक्षरता आ चुकी थी, और 1913 में, हालाँकि ब्रिटेन और अमेरिका की तुलना में जापान काफी गरीब था, जापान में ब्रिटेन की तुलना में कहीं ज्यादा और अमेरिका की तुलना में दुगुनी किताबें छप रही थीं। जापान की माली और सामाजिक तरक्की के स्वरूप और रफ्तार काफी हद तक तालीम पर टिए गए जोर पर निर्भर थी।
 4. इसके बाद चीन, ताईवान, दक्षिण कोरिया और पूर्व एशिया की दूसरी अर्थ-व्यवस्थाओं ने यही राह अपनाते हुए बुनियादी तालीम पर पूरा ध्यान लगाया।
 5. पर भारत में संविधान सभा भी तालीम के हक को बुनियादी हक न मान पाई। अपनी इस झिझक की वजह से देश-निर्माता वह साहसी कदम उठाने का मौका खो बैठे जिससे आज़ाद भारत की किस्मत बदल गई होती। इसके बनिस्वत दक्षिण अफ्रीका और केन्या जैसे विकासशील मुल्कों के नए संविधानों ने अलग राह पर चलते हुए यह माना कि तालीम का हक वाकई एक बुनियादी हक है।
 6. संविधान के 45वें अनुच्छेद में भारत की हुकूमत से कहा गया है कि 'संविधान की प्रतिष्ठा के दस सालों के अंदर चौदह साल की उम्र तक के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य तौर पर तालीम दी जाए।'
 7. 1960 में संविधान की प्रतिष्ठा के दस सालों की यह अवधि खत्म हो गई। इसलिए 1960 के आखिरी या 1970 के शुरुआती सालों में तालीम के हक का कानून बन जाना चाहिए था। इस तय अवधि के चार दशकों के बाद कानून बनाना खोए हुए मौकों की कथा है।
 8. इससे, और कई प्रशासनिक और दीगर वजह से, जहाँ एक

ओर तो निजी स्कूल बढ़ते चले हैं, हमारे सरकारी स्कूल गहरी समस्याओं में उलझते गए हैं। सरकारी स्कूलों का स्तर लगातार गिरता रहा है। इन समस्याओं में से कुछ तो अपर्याप्त सुविधाएँ अध्यापकों की गैरहाजिरी और छात्रों को दरकिनार किया जाना है। भारत के कई इलाकों में स्कूल के निरीक्षण की व्यवस्था भी व्यवहार में तबाह हो गई है।

9. सरकारी स्कूलों को तालीम की झोपड़पट्टियों की तरह देखा जाता है, ऐसी जगह जहाँ काम पर जा रहे गरीब माँ-बाप अपने बच्चों को छोड़ कर जा सकें। जिस किसी के पास थोड़े से भी पैसे हैं, वह अपने बच्चों को निजी स्कूल में डालना चाहता है। कोई अचरज नहीं कि कई सरकारी स्कूल बंद होने के कगार पर है।
10. स्कूलों की दशा में सुधार के लिए तुरंत कदम उठाए जाने जरूरी हैं। इस प्रसंग में अगस्त 2015 में इलाहाबाद हाईकोर्ट ने राज्य के मुख्य सचिव को निर्देश दिया कि वे सरकारी कर्मचारियों, जन-प्रतिनिधियों और जजों के बच्चों का सरकारी प्राइमरी स्कूलों में जाना सुनिश्चित करें। सरकारी कर्मचारियों को अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजने से रोकने के लिए हाईकोर्ट ने जुर्माना या सजा देने का सुझाव दिया, और इससे मिले पैसों को सरकारी स्कूलों में सुधार के लिए इस्तेमाल किया जा सकेगा। हाईकोर्ट के खयाल में सरकारी कर्मचारी अगर अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजेंगे तो वे इन स्कूलों में बेहतर इंतज़ाम को लेकर भी गंभीर हो जाएंगे।
11. जैसा अदालत के फैसले से दिखता है, भारत में सरकारी स्कूलों और शिक्षा-व्यवस्था की दुर्दशा का इलाज संभव है। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच का काम हमें इस दिशा में, खास तौर पर समान स्कूल व्यवस्था की माँग करने की ताकत देता है। अगर इसे, खास तौर पर राजनेता और राजनैतिक पार्टियों द्वारा, बड़े पैमाने पर उठाया जा सके, तो स्कूलों के काम करने में हमें बदलाव दिखेंगे।
12. यह संभव है कि भारत में संसाधनों को इकट्ठा कर तालीम के हक को लागू करने के तरीके को प्रभावी ढंग से बदलने की रणनीति का नक्शा बनाया जा सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य सचिव कोफी अन्नन के शब्दों में, 'तालीम ऐसा मानवाधिकार है जिसमें बदलाव ला सकने की बेहद संभावना है। इसी की नीव पर पर आज़ादी, लोकतंत्र और मानव के स्थाई विकास के बुनियादी टिके हैं।' यह सबको जाहिर है कि अगर हम तालीम के मसले को हल करने में सफल हो जाएँ, तो हमारे लिए बिल्कुल नया और खूबसूरत भविष्य इंतज़ार कर रहा होगा।

*जस्टिस ए. पी. शाह
पूर्व न्यायमूर्ति दिल्ली हाईकोर्ट*

टोबा टेकसिंह

■ सआदत हसन मंटो

बँटवारे के दो-तीन साल बाद पाकिस्तान और हिंदुस्तान की हुकूमतों को खयाल आया कि सामान्य कैदियों की तरह पागलों का भी तबादला होना चाहिए, यानी जो मुसलमान पागल हिंदुस्तान के पागलखानों में हैं, उन्हें पाकिस्तान पहुँचा दिया जाए और जो हिंदू और सिख पाकिस्तान के पागलखानों में हैं, उन्हें हिंदुस्तान के हवाले कर दिया जाए।

मालूम नहीं, यह बात माकूल थी या ग़ैर माकूल, बहरहाल दानिशमंदों के फ़ैसले के मुताबिक़ इधर-उधर ऊँची सतह की कान्फ़्रेंस हुई और बिल आखिर पागलों के तबादले के लिए एक दिन मुक़र्र हो गया।

अच्छी तरह छानबीन की गई - वे मुसलमान पागल जिनके संबंधी हिंदुस्तान ही में थे, वहीं रहने दिए गए, बाकी जो बचे, उनको सरहद पर रवाना कर दिया गया। पाकिस्तान से चूँकि क़रीब-क़रीब तमाम हिंदू-सिख जा चुके थे, इसलिए किसी को रखने-रखाने का सवाल ही पैदा नहीं हुआ, जितने हिंदू-सिख पागल थे, सबके-सब पुलिस की हिफ़ाज़त में बॉर्डर पर पहुँचा दिए गए।

उधर का मालूम नहीं लेकिन इधर लाहौर के पागलखाने में जब इस तबादले की खबर पहुँची तो बड़ी दिलचस्प गपशप होने लगी।

एक मुसलमान पागल जो बारह बरस से, हर रोज़, बाकायदगी के साथ 'ज़मींदार' पढ़ता था, उससे जब उसके एक दोस्त ने पूछा, 'मौलवी साब, यह पाकिस्तान क्या होता है?' तो उसने बड़े ग़ौरे-फ़िक्र के बाद जवाब दिया, 'हिंदुस्तान में एक ऐसी जगह है जहाँ उस्तरे बनते हैं!' यह जवाब सुनकर उसका दोस्त संतुष्ट हो गया।

इसी तरह एक सिख पागल ने एक दूसरे सिख पागल से पूछा, 'सरदार जी, हमें हिंदुस्तान क्यों भेजा जा रहा है, हमें तो वहाँ की बोली नहीं आती।' दूसरा मुस्कराया, 'मुझे तो हिंदुस्तोड़ों की बोली आती है, हिंदुस्तानी बड़े शैतानी आकड़ आकड़ फिरते हैं।'।

एक दिन, नहाते-नहाते, एक मुसलमान पागल ने 'पाकिस्तान जिंदाबाद' का नारा इस ज़ोर से बुलंद किया कि फ़र्श पर फिसलकर गिरा और बेहोश हो गया।

बाज़ पागल ऐसे भी थे जो पागल नहीं थे, उनमें बहुतायत ऐसे क्रांतिलों की थी जिनके रिश्तेदारों ने अफ़सरों को कुछ दे दिलाकर पागलखाने भिजवा दिया था कि वह फ़ाँसी के फंदे से बच जाएँ, यह पागल कुछ-कुछ समझते थे कि हिंदुस्तान क्यों तक्सीम हुआ है और यह पाकिस्तान क्या है, लेकिन सही वाकिआत से वह भी बेख़बर थे, अखबारों से उन्हें कुछ पता नहीं चलता था और पहेरेदार सिपाही

अनपढ़ और जाहिल थे, जिनकी गुफ़्तगू से भी वह कोई नतीजा बरामद नहीं कर सकते थे। उनको सिर्फ़ इतना मालूम था कि एक आदमी मुहम्मद अली जिन्नाह है जिसको कायदे-आज़म कहते हैं, उसने मुसलमानी के लिए एक अलहदा मुल्क बनाया है जिसका नाम पाकिस्तान है, यह कहाँ है, इसकी भौगोलिक स्थिति क्या है, इसके मुताबिक़ वह कुछ नहीं जानते थे - यही वजह है कि वह सब पागल जिनका दिमाग़ पूरी तरह बिगड़ा हुआ नहीं हुआ था, इस मखमसे में गिरफ़्तार थे कि वह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में, अगर हिंदुस्तान में हैं तो पाकिस्तान कहाँ है, अगर वह पाकिस्तान में हैं तो यह कैसे हो सकता है कि वह कुछ अर्से पहले यहीं रहते हुए हिंदुस्तान में थे।

एक पागल तो हिंदुस्तान और पाकिस्तान, पाकिस्तान और हिंदुस्तान के चक्कर में कुछ ऐसा गिरफ़्तार हुआ कि और ज़्यादा पागल हो गया। झाड़ू देते-देते वह एक दिन दरख़्त पर चढ़ गया और टहने पर बैठकर दो घंटे मुसलसल तक्रीर करता रहा, जो पाकिस्तान और हिंदुस्तान के नाजुक मसले पर थी, सिपाहियों ने जब उसे नीचे उतरने को कहा तो वह और ऊपर चढ़ गया। जब उसे डराया-धमकाया गया तो उसने कहा, 'मैं हिंदुस्तान में रहना चाहता हूँ न पाकिस्तान में, मैं इस दरख़्त पर रहूँगा।' बड़ी देर के बाद जब उसका दौरा सर्द पड़ा तो वह नीचे उतरा और अपने हिंदू-सिख दोस्तों से गले मिल-मिलकर रोने लगा - इस खयाल से उसका दिल भर आया था कि वह उसे छोड़कर हिंदुस्तान चले जाएँगे।

एक एम.एस.सी. पास रेडियो इंजीनियर में, जो मुसलमान था और दूसरे पागलों से बिलकुल अलग-थलग बाग की एक खास पगडंडी पर सारा दिन खामोश टहलता रहता था, यह तब्दीली ज़ाहिर हुई कि उसने अपने तमाम कपड़े उतारकर दफ़ादार के हवाले कर दिए और नंग-धड़ंग सारे बाग में चलना-फिरना शुरू कर दिया।

चियौट के एक मोटे मुसलमान ने, जो मुस्लिम लीग का सरगर्म कारकुन रह चुका था और दिन में पंद्रह-सोलह मर्तबा नहाया करता था, एकदम यह आदत तर्क कर दी - उसका नाम मुहम्मद अली था, चुनांचे उसने एक दिन अपने जंगले में एलान कर दिया कि वह कायदे-आज़म मुहम्मद अली जिन्नाह है, उसकी देखा-देखी एक सिख पागल मास्टर तारा सिंह बन गया - इससे पहले कि खून-खराबा हो जाए, दोनों को ख़तरनाक पागल करार देकर अलहदा-अलहदा बंद कर दिया गया।

लाहौर का एक नौजवान हिंदू वकील मुहब्बत में नाकाम होकर पागल हो गया था, जब उसने सुना कि अमृतसर हिंदुस्तान में चला गया है तो उसे बहुत दुख हुआ। अमृतसर की एक हिंदू लड़की से उसे मुहब्बत थी जिसने उसे ठुकरा दिया था मगर दीवानगी की हालत

में भी वह उस लड़की को नहीं भूला था - वह उन तमाम हिंदू और मुसलमान लीडरों को गालियाँ देने लगा जिन्होंने मिल-मिलाकर हिंदुस्तान के दो टुकड़े कर दिए हैं, और उसकी महबूबा हिंदुस्तानी बन गई है और वह पाकिस्तानी। जब तबादले की बात शुरू हुई तो उस वकील को कई पागलों ने समझाया कि वह दिल बुरा न करे, उसे हिंदुस्तान भेज दिया जाएगा, उसी हिंदुस्तान में जहाँ उसकी महबूबा रहती है - मगर वह लाहौर छोड़ना नहीं चाहता था, उसका ख्याल था कि अमृतसर में उसकी प्रैक्टिस नहीं चलेगी।

यूरोपियन वार्ड में दो एंग्लो इंडियन पागल थे। उनको जब मालूम हुआ कि हिंदुस्तान को आज़ाद करके अंग्रेज़ चले गए हैं तो उनको बहुत सदमा हुआ, वह छुप-छुपकर घंटों आपस में इस अहम मसले पर गुफ्तगू करते रहते कि पागलखाने में अब उनकी हैसियत किस किस्म की होगी, योरोपियन वार्ड रहेगा या उड़ा दिया जाएगा, ब्रेक-फास्ट मिला करेगा या नहीं, क्या उन्हें डबल रोटी के बजाय ब्लडी इंडियन चपाटी तो ज़बरदस्ती नहीं खानी पड़ेगी?

एक सिख था, जिसे पागलखाने में दाखिल हुए पंद्रह बरस हो चुके थे। हर वक्त उसकी जुबान से यह अजीबो-गरीब अल्फ़ाज़ सुनने में आते थे, 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ दी लालटेन!' वह दिन को सोता था न रात को। पहरेदारों का यह कहना था कि पंद्रह बरस के तबील अर्से में वह एक लहजे के लिए भी नहीं सोया था, वह लेटता भी नहीं था, अलबत्ता कभी-कभी किसी दीवार के साथ टेक लगा लेता था - हर वक्त खड़ा रहने से उसके पाँव सूज गए थे और पिंडलियाँ भी फूल गई थीं, मगर जिस्मानी तकलीफ़ के बावजूद वह लेटकर आराम नहीं करता था।

हिंदुस्तान, पाकिस्तान और पागलों के तबादले के मुताल्लिक़ जब कभी पागलखानों में गुफ्तगू होती थी तो वह गौर से सुनता था, कोई उससे पूछता कि उसका क्या ख्याल है तो वह बड़ी संजीदगी से जवाब देता, 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ दी पाकिस्तान गवर्नमेंट!' लेकिन बाद में 'आफ दि पाकिस्तान गवर्नमेंट' की जगह 'आफ दि टोबा टेक सिंह गवर्नमेंट' ने ले ली, और उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू कर दिया कि टोबा टेक सिंह कहाँ हैं, जहाँ का वह रहने वाला है। किसी को भी मालूम नहीं था कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में, जो बताने की कोशिश करते थे वह खुद इस उलझाव में गिरफ़्तार हो जाते थे कि सियालकोट पहले हिंदुस्तान में होता था, पर अब सुना है कि पाकिस्तान में हैं, क्या पता है कि लाहौर जो आज पाकिस्तान में हैं, कल हिंदुस्तान में चला जाए या सारा हिंदुस्तान ही पाकिस्तान बन जाए और यह भी कौन सीने पर हाथ रखकर कह सकता है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान, दोनों किसी दिन सिरे से गायब ही हो जाएँ!

इस सिख पागल के केश छिदरे होकर बहुत मुख़्तसर रह गए थे, चूँकि बहुत कम नहाता था, इसलिए दाढ़ी और सिर के बाल आपस में जम गए थे जिसके बायस उसकी शक्ल बड़ी भयानक हो गई थी, मगर आदमी हिंसक नहीं था - पंद्रह बरसों में उसने कभी किसी से झगड़ा-फ़साद नहीं किया था। पागलखाने के जो पुराने मुलाज़िम थे,

वह उसके मुताल्लिक़ इतना जानते थे कि टोबा टेक सिंह में उसकी कई ज़मीनें थी, अच्छा खाता-पीता ज़मींदार था कि अचानक दिमाग उलट गया, उसके रिश्तेदार उसे लोहे की मोटी-मोटी जंजीरों में बाँधकर लाए और पागलखाने में दाखिल करा गए।

महीने में एक बार मुलाकात के लिए यह लोग आते थे और उसकी खैर-खैरियत दरयाफ़्त करके चले जाते थे, एक मुश्त तक यह सिलसिला जारी रहा, पर जब पाकिस्तान, हिंदुस्तान की गड़बड़ शुरू हुई तो उनका आना-जाना बंद हो गया।

उसका नाम बिशन सिंह था मगर सब उसे टोबा टेक सिंह कहते थे। उसको यह बिलकुल मालूम नहीं था कि दिन कौन-सा है या कितने साल बीत चुके हैं, लेकिन हर महीने जब उसके निकट संबंधी उससे मिलने के लिए आने के करीब होते तो उसे अपने आप पता चल जाता, चुनांचे वह दफादार से कहता कि उसकी मुलाकात आ रही है, उस दिन वह अच्छी तरह नहाता, बदन पर खूब साबुन घिसता और बालों में तेल डालकर कंघा करता, अपने वह कपड़े जो वह कभी इस्तेमाल नहीं करता था, निकलवाकर पहनता और यों सज-बनकर मिलने वालों के पास जाता। वह उससे कुछ पूछते तो वह ख़ामोश रहता या कभी-कभार 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ दी लालटेन' कह देता।

उसकी एक लड़की थी जो हर महीने एक उँगली बढ़ती-बढ़ती पंद्रह बरसों में जवान हो गई थी। बिशन सिंह उसको पहचानता ही नहीं था - वह बच्ची थी जब भी अपने आप को देखकर रोती थी, जवान हुई तब भी उसकी आँखों से आँसू बहते थे।

पाकिस्तान और हिंदुस्तान का किस्सा शुरू हुआ तो उसने दूसरे पागलों से पूछना शुरू किया कि टोबा टेक सिंह कहाँ हैं, जब उसे इत्मीनानबख़्श जवाब न मिला तो उसकी कुरेद दिन-ब-दिन बढ़ती गई। अब मुलाकात भी नहीं होती थी, पहले तो उसे अपने आप पता चल जाता था कि मिलने वाले आ रहे हैं, पर अब जैसे उसके दिल की आवाज़ भी बंद हो गई थी जो उसे उनकी आमद की ख़बर दे दिया करती थी - उसकी बड़ी ख़्वाहिश थी कि वह लोग आएँ जो उससे हमदर्दी का इज़हार करते थे और उसके लिए फल, मिठाइयाँ और कपड़े लाते थे। वह आएँ तो वह उनसे पूछे कि टोबा टेक सिंह कहाँ हैं, वह उसे यकीनन बता देंगे कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में - उसका ख्याल था कि वह टोबा टेक सिंह ही से आते हैं जहाँ उसकी ज़मीनें हैं।

पागलखाने में एक पागल ऐसा भी था जो खुद को खुदा कहता था। उससे जब एक रोज़ बिशन सिंह ने पूछा कि टोबा टेक सिंह पाकिस्तान में हैं या हिंदुस्तान में तो उसने हस्वे-आदत कहकहा लगाया और कहा, 'वह पाकिस्तान में हैं न हिंदुस्तान में, इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म ही नहीं दिया!'

बिशन सिंह ने उस खुदा से कई मर्तबा बड़ी मिन्नत-समाजत से कहा कि वह हुक्म दे दें ताकि झंझट ख़त्म हो, मगर खुदा बहुत मसरूफ़ था, इसलिए कि उसे और बे-शुमार हुक्म देने थे।

एक दिन तंग आकर बिशन सिंह खुदा पर बरस पड़ा, 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ वाहे गुरु

जी दा खालसा एंड वाहे गुरु जी दि फतह!' इसका शायद मतलब था कि तुम मुसलमानों के खुदा हो, सिखों के खुदा होते तो ज़रूर मेरी सुनते।

तबादले से कुछ दिन पहले टोबा टेक सिंह का एक मुसलमान जो बिशन सिंह का दोस्त था, मुलाकात के लिए आया, मुसलमान दोस्त पहले कभी नहीं आया था। जब बिशन सिंह ने उसे देखा तो एक तरफ हट गया, फिर वापस जाने लगा मगर सिपाहियों ने उसे रोका, 'यह तुमसे मिलने आया है, तुम्हारा दोस्त फज़लदीन है!'

बिशन सिंह ने फज़लदीन को एक नज़र देखा और कुछ बड़बड़ाने लगा। फज़लदीन ने आगे बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखा, 'मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि तुमसे मिलूँ लेकिन फुरसत ही न मिली, तुम्हारे सब आदमी खैरियत से हिंदुस्तान चले गए थे, मुझसे जितनी मदद हो सकी, मैंने की तुम्हारी बेटी रूपकौर...' वह कहते-कहते रुक गया।

बिशन सिंह कुछ याद करने लगा, 'बेटी रूपकौर...'

फज़लदीन ने रुक-रुककर कहा, 'हाँ, वह, वह भी ठीक-ठाक है, उनके साथ ही चली गई थी!'

बिशन सिंह खामोश रहा।

फज़लदीन ने फिर कहना शुरू किया, 'उन्होंने मुझे कहा था कि तुम्हारी खैर-खैरियत पूछता रहूँ, अब मैंने सुना है कि तुम हिंदुस्तान जा रहे हो, भाई बलबीर सिंह और भाई वधावा सिंह से मेरा सलाम कहना और बहन अमृतकौर से भी, भाई बलबीर से कहना कि फज़लदीन राजीखुशी है, दो भूरी भैंसे जो वह छोड़ गए थे, उनमें से एक ने कट्टा दिया है, दूसरी के कट्टी हुई थी, पर वह छः दिन की होके मर गई और मेरे लायक जो खिदमत हो, कहना, मैं हर वक्त तैयार हूँ, और यह तुम्हारे लिए थोड़े-से मरोडे लाया हूँ!'

बिशन सिंह ने मरोंडों की पोटली लेकर पास खड़े सिपाही के हवाले कर दी और फज़लदीन से पूछा, 'टोबा टेक सिंह कहाँ है?'

फज़लदीन ने कदरे हैरत से कहा, 'कहाँ है? वहीं है, जहाँ था!'

बिशन सिंह ने फिर पूछा, 'पाकिस्तान में है या हिंदुस्तान में?'

'हिंदुस्तान में, नहीं, नहीं पाकिस्तान में!' फज़लदीन बौखला-सा गया।

बिशन सिंह बड़बड़ाना हुआ चला गया, 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ दी पाकिस्तान एंड हिंदुस्तान आफ दी दुर फिटे मुँह!'

तबादले की तैयारियाँ मुकम्मल हो चुकी थीं, इधर से उधर और उधर से इधर आनेवाले पागलों की फेहरिस्तें पहुँच चुकी थीं और तबादले का दिन भी मुक़र्र हो चुका था।

सख्त सर्दियाँ थीं जब लाहौर के पागलखाने से हिंदू-सिख पागलों से भरी हुई लारियाँ पुलिस के रक्षक दस्ते के साथ रवाना हुई, संबंधित अफसर भी हमराह थे - वागह (एक गाँव) के बॉर्डर पर दोनों तरफ के सुपरिटेण्डेंट एक-दूसरे से मिले और प्रारंभिक कार्रवाई खत्म होने

के बाद तबादला शुरू हो गया, जो रात-भर जारी रहा।

पागलों को लारियों से निकालना और उनको दूसरे अफसरों के हवाले करना बड़ा कठिन काम था, बाज़ तो बाहर निकलते ही नहीं थे, जो निकलने पर रज़ामंद होते थे, उनको सँभालना मुश्किल हो जाता था, क्योंकि वह इधर-उधर भाग उठते थे, जो नंगे थे, उनको कपड़े पहनाए जाते तो वह उन्हें फाड़कर अपने तन से जुदा कर देते - कोई गालियाँ बक रहा है, कोई गा रहा है, कुछ आपस में झगड़ रहे हैं, कुछ रो रहे हैं, बिलख रहे हैं - कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं देती थी - पागल औरतों का शोर-शराबा अलग था, और सर्दी इतनी कड़ाके की थी कि दाँत से दाँत बज रहे थे।

पागलों की अवसरीयत इस तबादले के हक में नहीं थी, इसलिए कि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहाँ फेंका जा रहा है, वह चंद जो कुछ सोच-समझ सकते थे, 'पाकिस्तान : जिंदाबाद' और 'पाकिस्तान: मुर्दाबाद' के नारे लगा रहे थे, दो-तीन मर्तबा फसाद होते-होते बचा, क्योंकि बाज मुसलमानों और सिखों को यह नारे सुनकर तैश आ गया था।

जब बिशन सिंह की बारी आई और वागह के उस पार का मुताल्लिक अफसर उसका नाम रजिस्टर में दर्ज करने लगा तो उसने पूछा : 'टोबा टेक सिंह कहाँ है, पाकिस्तान में या हिंदुस्तान में?'

मुताल्लिका अफसर हँसा : 'पाकिस्तान में...!'

यह सुनकर बिशन सिंह उछलकर एक तरफ हटा और दौड़कर अपने बचे हुए साथियों के पास पहुँच गया।

पाकिस्तानी सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरी तरफ ले जाने लगे, मगर उसने चलने से इनकार कर दिया, 'टोबा टेक सिंह यहाँ है!' और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा, 'औपड़ दि गड़ गड़ दि अनैक्स दि बेध्यानां दि मुँग दि दाल आफ दी टोबा टेक सिंह एंड पाकिस्तान!'

उसे बहुत समझाया गया कि देखो, अब टोबा टेक सिंह हिंदुस्तान में चला गया है, अगर नहीं गया है तो उसे फौरन वहाँ भेज दिया जाएगा, मगर वह न माना! जब उसको ज़बर्दस्ती दूसरी तरफ ले जाने की कोशिश की गई तो वह दरमियान में एक जगह इस अंदाज़ में अपनी सूजी हुई टांगों पर खड़ा हो गया जैसे अब उसे कोई ताकत नहीं हिला सकेगी, आदमी चूँकि सीधा था, इसलिए उससे ज़्यादा ज़बर्दस्ती न की गई, उसको वहीं खड़ा रहने दिया गया, और तबादले का बाकी काम होता रहा।

सूरज निकलने से पहले शांत पड़े बिशन सिंह के हलक से एक गगन भेदी चीख निकली।

इधर-उधर से कई दौड़े आए और उन्होने देखा कि वह आदमी जो पंद्रह बरस तक दिन-रात अपनी टाँगों पर खड़ा रहा था, औंधे मुँह लेटा है - उधर खारदार तारों के पीछे हिंदुस्तान था, इधर वैसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान, दरमियान में ज़मीन के उस टुकड़े पर जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेक सिंह पड़ा था।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए